गीता ज्ञान

स्वामी श्रीमद् रामहर्षणदास जी महाराज

गीता ज्ञान

अनन्त श्री विभूषित
स्वामी श्रीमद् रामहर्षणदास जी महाराज

श्री हर्षण साहित्य प्रकाशन
परिक्रमा मार्ग, नया घाट, अयोध्या
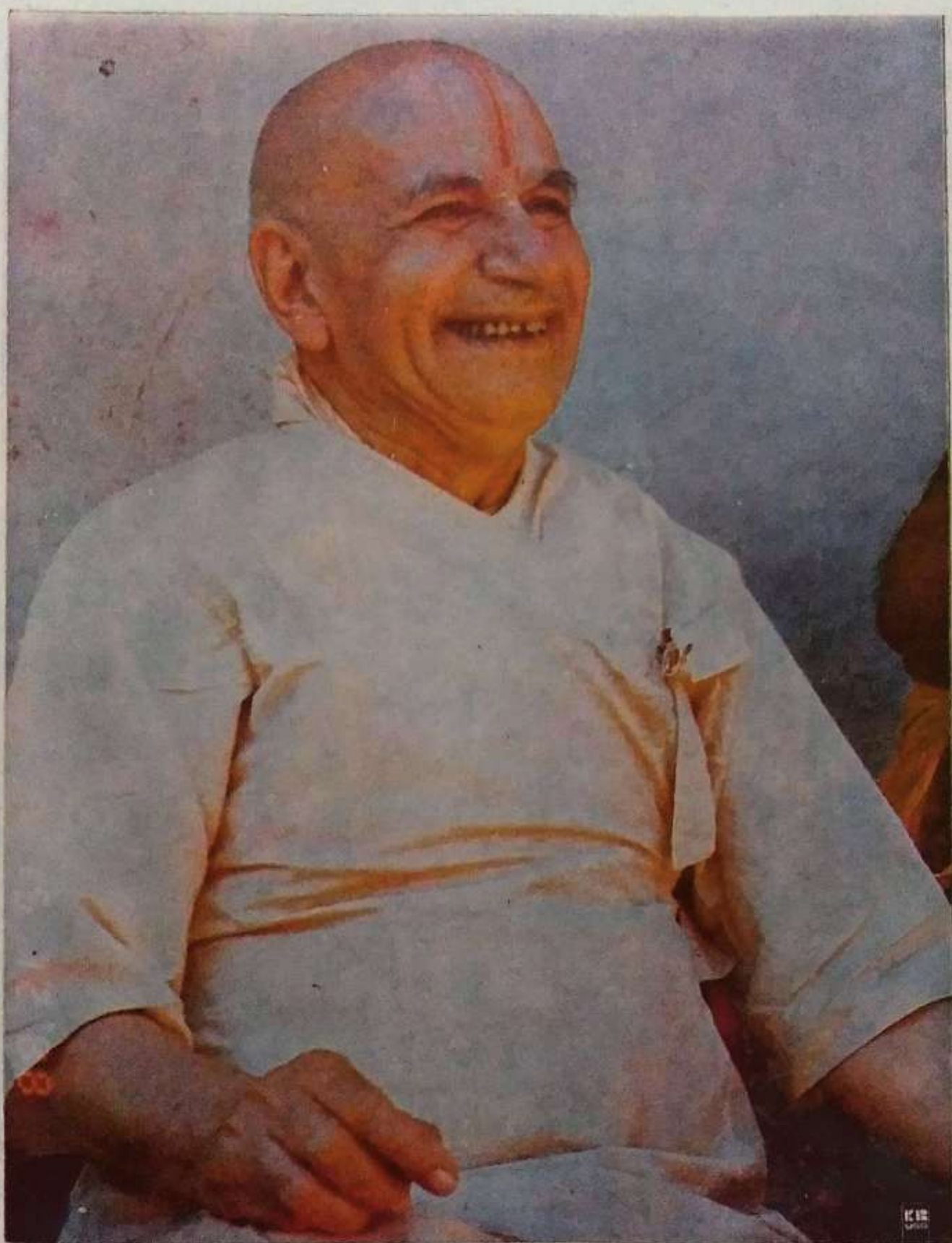
अनन्त श्री विभूषित स्वामी श्री रामहर्षण दास जी महाराज

विषय सूची

—— : भूमिका :——

सच्चिदानन्दरूपाय गीता–ज्ञान प्रवक्तृणे !
योगेशाय च कृष्णाय पार्थ सारथिने नमः !!
नमः प्रेमावताराय परमाचार्यरूपिणे ।
"श्री" रामहर्षण प्रभवे गीता मर्म प्रकाशिने ।।

भारतीय–वेदान्त–दर्शन के प्रस्थानत्रयी में श्रीमद्भगवद् गीता का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। महर्षिव्यास–प्रणीत शतसाहस्त्र संहिता महाभारत का आध्यात्मिक सारतत्व, गीता के रूप में अभिव्यक्त है। भगवान की वाणी होने के कारण यह वेद की ऋचाओं के समान मन्त्ररूप है। सरल होते हुए भी गम्भीरार्थों से भरी हुई है अतः यह सूत्र रूप भी है। भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने महती कृपा करके इसे इतिहास के रूप में कहा है अतः इसमें व्यापक रूप से सबका अधिकार है।

विश्व के आध्यात्मिक मन्च पर गीता का सर्वाधिक सम्मान सिद्ध हो चुका है अतः संसार की प्रायः सभी भाषाओं में गीता के पद्यानुवाद, व्याख्यान और दो हजार से भी अधिक टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। इतनी अधिक टीकाएँ विश्व के अन्य किसी भी दर्शनग्रन्थ की नहीं मिलतीं। केवल भारतवर्ष की ही विभिन्न भाषाओं में गीता की एक सहस्त्र से भी अधिक टीकाएँ हो चुकी होंगी। फिर भी नई–नई टीकाएँ होती जा रही हैं और सम्भवतया होती ही रहेंगी। प्रभु अनन्तैश्वर्य सम्पन्न है। उनकी लीलाएँ अनन्त हैं, अतः इसी प्रकार आप्त और निश्चितार्थ होते हुए भी, उनके वाणी के रहस्यार्थ भी अनेकानेक ही नहीं अनन्त हो सकते हैं। अतः परम प्रभु के बाग विसर्ग भूत गीता की शत सहत्राधिक टीकाओं का होते रहना भी आश्चर्य नहीं है अर्थात् स्वाभाविक ही है।

श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रायः सभी सम्प्रदायाचार्यों ने टीकाएँ की हैं। गीता में साधन सिद्धान्त को लेकर इतरेतर दार्शिनिक विद्वानों में बहुधा वैमत्य देखा जाता है। कर्मकाण्डी तथा सांख्ययोगी विद्वद्गण गीता को कर्म प्रधान, अद्वैत वेदान्ती लोग ज्ञान प्रधान और प्रायः सभी वैष्णवाचार्य भक्ति प्रधान ग्रन्थ बतलाते हैं। वास्तव में गीता में प्रपत्ति की प्रधानता है। क्योंकि निःश्रेयस्सिद्धि के लिए श्री अर्जुन ने द्वितीय अध्याय में प्रथम प्रपत्तिपूर्वक निवेदन किया है, और भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने अष्टादशवें अध्याय तक अनेक योग साधनों का वर्णन करते हुए सबसे अंत में प्रपत्ति का ही प्रतिपादन किया है यथा – अर्जुन–

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।

(गी० २/७)

श्री भगवान

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिस्यामि मा शुचः।।

।। गी० १८/६६

श्लोक कहते हैं : परम साध्य और चरम साधन, ये दो तत्व किसी भी दर्शन ग्रन्थ के आत्मा और प्राण हैं। जिस प्रकार, हृदयदेश में केन्द्रित चेतना का संचार प्राण के साथ शरीर के प्रत्येक अंग में होता रहता है उसी प्रकार उक्त दोनों रहस्यार्थों का प्रकाशन ग्रन्थ में स्थल विशेष पर होते हुए भी, इनका आभास प्रायः सर्वत्र होता रहता है। जिन टीकाओं में इस तथ्य का विशेष ध्यान दिया जाता है उनमें ग्रन्थ की आत्मा तथा प्राण का सम्पोषण सहज में ही हो जाता है। विशिष्टाद्वैत वादी श्री सम्प्रदाय के वैष्णवाचार्यों की टीकाओं में विशेषतया प्रपत्ति का ही प्रकाशन देखा जाता है। यही उनकी टीकाओं का मौलिक उत्कर्ष है।

श्रीमद्भगवद्गीता के विषय में कुछ न कुछ व्याख्या एवं टीका के रूप में लिखकर प्रभु की सेवा करने की परिपाटी सन्तपूर्वाचार्य प्रवरों से ही चली आ रही है। एवमेव, "योग–ज्ञान–वैराग्य भक्ति–प्रपत्ति–परम–प्रेमादि–विपुल–वैभव– विभूषित, कलिपावनावतार अनन्त श्री सम्पन्न सर्व समर्थ स्वामी श्री रामहर्षण दास जी महाराज जू ने प्रभु की प्रसन्नता के लिए कैंकर्य के रूप में गीता की ज्ञानमयी–टीका को लिखकर, पूर्वाचार्यों की पुनीत परम्परा के गौरव का सम्वर्धन करते हुए लोक का परम कल्याण किया है। इस टीका के अनुशीलन से गीता के सभी रहस्यार्थों का बोध हो जाता है इसीलिए इसको "गीता–ज्ञान" इस अन्वर्थ संज्ञा से सुशोभित किया गया है। इसमें सरलतम भाषा एवं विवेचन शैली का प्रयोग किया गया है, अपेक्षित विषयों का समावेश अनपेक्षित विषयों का पूर्णरूप से अभाव है। यह टीका, विषय क्रम भंग, अनुवृत्तिबाहुल्य एवम् विस्ताराडम्बर आदि दोषों से सर्वथा शून्य है।

प्रस्तुत टीका में रहस्यार्थों के सौगम्य और सौलभ्य का बहुत ही ध्यान दिया गया है। सम्पूर्ण टीका में प्रेम और प्रपत्ति की प्रधानता होते हुए भी, यथा स्थान यथोचित रूप से कर्म, ज्ञान, विज्ञान योग, भक्ति, भगवद्विभूति त्रैगुण्य प्रकृति–विवेकादि सभी आध्यात्मिक रहस्यार्थों का उद्घाटन, सीमित, सन्तुलित और अनुशासित शब्दों में किया गया है। लगता है कि इन्हीं गद्यात्मक शब्दों में श्रीकृष्ण चन्द्र ने गीता का मौलिक उपदेश किया है। क्योंकि थोड़ी ही देर तक पढ़ने मात्र से मन में शान्ति और बुद्धि में बोध होने लगता है, हृदय में सत्वोद्रेक और आँखों में अश्रु प्रवाह होने को हो जाता है। यह तो सर्वथा सत्य ही है कि प्रभु की साक्षात् कृपा शक्ति ने ही श्री स्वामी जी महाराज के द्वारा यह टीका लिखवायी है इसीलिए इसका सद्य प्रभावकारी होना स्वाभाविक ही है। वस्तुतः इस टीका में केवल वाह्य अध्ययन कृत बौद्धिक वैभव ही नहीं अपितु मुख्य रूप से सफल आध्यात्मिक साधना का प्रभाव है। श्री स्वामी जी महाराज परम सिद्ध

महापुरुष हैं। प्रभु की कृपा शक्ति के द्वारा इन्हें सभी आध्यात्मिक रहस्यार्थ प्राप्त हैं। इसी कारण अत्यन्त उदार एवम् करुणापूर्ण हृदय वाले सरकार श्री स्वामी जी के द्वारा प्रभु की सेवा में समर्पित "गीता ज्ञान" रूपी वाङ्मयी सुकृति, प्रभु की कृपा के रूप में जन मानस के मोहान्धकार एवं पाप शाप संताप को दूर करके सच्चित सुख प्रदान करने में बहुत ही सक्रिय सिद्ध हुई है। "श्री हर्षण आलोक" पत्रिका के माध्यम से इसके उदधरणों को पढ़ पढ़ कर लोग प्रभावित होने लगे थे। प्रकाशन के पूर्व ही इसके इतने अधिक लोकप्रिय होने में, प्रभु की प्रबल इच्छा ही कारण हो सकती है। लगभग साल भर से, चारों ओर से अनेकानेक भक्त समुदाय एवम् सन्त विद्वानों की ओर से, इस टीका के पूर्ण प्रकाशन के लिए आग्रह पूर्ण निवेदन आते रहे हैं। श्री स्वामी जी के शिष्य मण्डल ने, इसे भगवदाज्ञा मानकर यह प्रथम प्रकाशन समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि जिज्ञासु मुमुक्षु एवम् भावुक भागवत जन इसका अध्ययन करके ज्ञान–विज्ञान–भक्ति और भगवत प्रेम को प्राप्त करके परम विश्राम का अनुभव करेंगे।

श्री रामहर्षण महाप्रभुणा कृतं ये।
गीता विवेचनमिदं प्रपठन्ति नित्यम्।।
प्रेमामृतं समधिगम्य परात्मनस्ते।
यास्यन्ति धाम परमम्, न पुनर्भवाय।।

कार्तिक पूर्णिमा, — डॉ. रामकिंकर दास
गुरुवार, सं २०४४ श्री वैष्णव अयोध्या उ० प्र०

वसुदेव सुतं देवं कंस चाणूर मर्दनं ।
देवकी परमानंदं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुं ।।

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।१।।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।।२।।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।।३।।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।।४।।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ।।५।।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।।६।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्नि–बोध द्विजोत्तम् ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।।७।।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।।८।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।९।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१०।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।।११।।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शखंदध्मौ प्रतापवान् ।।१२।।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।।१३।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदघ्मतुः ।।१४।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ।।१५।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।१६।।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।।१७।।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ।।१८।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।१६।।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।।२०।।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।।२१।।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ।।२२।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेय प्रियचिकीर्षवः ।।२३।।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ।।२५।।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।।२६।।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।२६।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।३०।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।

न कांङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यंसुखानिच।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाःश्वशुराः पौत्राःश्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।३४।।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

तस्मान्नार्हावयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्व बान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्र–द्रोहे च पातकम् ।।३८।।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।३६।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।।४१।।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।४२।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।४३।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।४५।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।

धर्म–धरा भारतभूमि के कुरुक्षेत्र नामक युद्ध स्थल में जिस प्रकार पाण्डवों और कौरवों की सेनायें वीरोचित अस्त्रों और शस्त्रों से सुसज्जित होकर शंख, भेरी, मृदंग आदि जुझाऊ बाजों की तुमुलनाद से आकाश और अवनी को निनादित कर रही थीं, जिसे श्रवण कर वीरों के हृदय में हर्ष तथा कायरों की काया में कंपन और भय भरकर उन्हें संग्राम करने और रणभूमि से भाग जाने की शीघ्रता करने का संदेश दे रहे थे, उसी प्रकार करण कलेवर धारण करने वाले धर्म की अर्हता से युक्त मानव के अन्तःकरण के कुरुक्षेत्र में दैव और आसुर–भाव की सेनाओं का द्वन्द्वयुद्ध सदा से चला आ रहा है, क्योंकि सृष्टि का स्वभाव त्रिगुणात्मक है। सत् के प्राधान्य से दैव और रज, तम के बाहुल्य से आसुर भाव प्रबल होता है। दैव–भाव में दैवी सम्पत्ति के गुण निवास कर जीव को मोक्ष सुख प्रदान

करते हैं, और आसुर भाव में आसुरी सम्पत्ति के दुर्गुण निवास कर संसार चक्र में सदा चक्कर लगाना ही जन्तु के मत्थे मढ़ा करते हैं। दोनों एक दूसरे के सहज विरोधी और क्रान्तिकारी हैं, दोनों अपनी–अपनी विजय पताका फहराते हुए जीव को मोक्ष और बन्धन के साम्राज्य में अभिषिक्त करने के लिये तुले रहते हैं, किन्तु इन दोनों में आसुरी सेना बड़ी मायावी और प्रबल होती है, इसलिए कल्याण कामी को बड़ी सावधानी बरतते हुये, विपक्षी से सदा सतर्क और सजग रहना चाहिए, किंचित आलस या प्रमाद के प्राप्त होने पर शत्रु सेना बलात् आक्रमण कर अपने चंगुल में फँसा लेगी तथा कल्याण–पथ की ओर मुख फेरने का अवसर न देगी। अस्तु . . . .

जैसे नरावतार श्री अर्जुन ने प्रथम भगवान् कृष्ण से प्रार्थना कर रथ के द्वारा अपने प्रतिपक्षी युद्ध कामी योद्धाओं के बीच जाकर उनकी व्यवस्थित समरोचित सम्पन्नता को सम्यक्तया अपने दृष्टि का विषय बनाया था, उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष का कर्त्तव्य होता है कि वह भगवत्–कृपा का अनुसंधान कर प्रभु से प्रार्थना करे कि हे प्रभो ! हमें अन्तः प्रविष्ट होकर अपने गुणदोषानुसंधान करने की शक्ति प्रदान करें अर्थात् त्याज्योपादेय ज्ञान का दान करें, तदनन्तर अपने अन्तःकरण में प्रवेश कर दैवी भाव और आसुरी भाव के गुण दोषों का दर्शन करे, यदि दैवी सम्पत्ति के गुणों की अपेक्षा आसुरी सम्पत्ति के दोष न्यून और क्षीणकाय दृष्टिगोचर हों तो भी उनसे असावधान न रहकर उनका विनाश करने के लिये सतत प्रयत्नशील बना रहे क्योंकि वे तनिक असावधानी के देखते ही उभड़कर बिन्दु से समुद्र का स्वरूप धारण कर दैवी भाव की समस्त सेना को अपनी तरंगों के थपेड़े मार–मार कर स्मृति–हीन बना देते हैं और सदा के लिये अपने में आत्मसात् कर लेते हैं।

इन आसुरी दोषों की दुर्दान्तता तथा प्रबलता के विषय में विवेक द्वारा विवेचन किया जाय तो बिना भगवत्–कृपा का आश्रय ग्रहण किये, कोई

भी प्रयत्न के साम्राज्य में सिंहासनासीन पुरुषार्थी आसुरी सम्पत्ति की सेना का दमन करके विजय की माला नहीं पहन सकता और न कीर्ति प्राप्त करने का पात्र ही बन सकता।

आश्चर्य ! जब भगवान के असाधारण सखा, आस्तिकों में अग्रगण्य, इन्द्रियजित और अद्वितीय धनुर्धर, नरावतार श्री अर्जुन जी कौरवों की व्यवस्थित शक्ति समन्वित सेना को देखते ही अपना कर्त्तव्य भूलकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और मोह–ममता की पैनी द्विधारी चोट खाकर काँपने लगे, गाण्डीव हाथ से गिर गया और स्वयं पृथ्वी की गोद में गिर पड़े, तब साधारण संसारी जीव किंचित् साधना की सफलता से प्राप्त दैवी सम्पत्ति के गुणों को देखकर आसुरी दोषों की प्रबलता को नगण्य समझें और वे अन्तर देखते ही दैवी गुणों को विनष्ट करके जीवात्मा को नरक की खाई में गिरा दें तो आश्चर्य ही क्या है ? जीव जब दैवी सम्पत्ति का सहारा लेकर आसुरी सम्पत्ति का समूल विनाश करने के लिये उद्यत होता है तब अर्जुन की तरह उसको भी मोह होता है । हाय ! काम को मारूँ तो मुझे पत्नी सुख कहाँ मिलेगा और स्त्री को भी सुख के स्वप्न न होंगे, अतएव काम को नहीं मारना चाहिए। अरे ! जब कामना ही न होगी तो जीवन बेकार हो जायेगा, अतएव ऐसे सुख का संविधान बनाने वाले अपने मित्र काम को न मारूँगा हाय ! क्रोध को यदि मारता हूँ तो मुझे सभी ठुकरायेंगे, मेरी मालमल्कियत लूट लेंगे लोग, अहो ! महान् विपत्ति का सामना करना पड़ेगा, बेगार वहन करते–करते शिर में बाल न रहेंगे, अतएव अपने हितैषी क्रोध का विनाश न करूँगा। क्रोध को साथ रखने से सभी मुझसे सभय रहेंगे और समय–समय पर साथ देकर मेरा कार्य बनाते रहेंगे। अरे अरे ! लोभ को तो मारना बिल्कुल ठीक नहीं, लोभ के मारने से जिन्दगी ही समाप्त हो जायेगी, जब धन का लोभ न होगा, कीर्ति का लोभ न होगा, स्त्री का लोभ न होगा, तब जीवन नीरस फीका और मरा हुआ लगेगा। अरे ! कंचन, कामिनी और कीर्ति ही तो जीवन को सरस बनाये हुये हैं,

इसलिये लोभ मेरा अभिन्न मित्र है और मेरे द्वारा वह अबध्य है। अहो ! अगर मेरे सुखदायक स्नेही काम आदि न रहेंगे तो वेदत्रयी धर्म कैसे धारण किया जायेगा, और उसके फलस्वरूप अर्थ, धर्म, काम का सेवन कैसे संभव हो सकेगा। इसी प्रकार आसुरी सम्पत्ति के सम्पूर्ण दोष जीव के अन्तःकरण में अपना आधिपत्य जमा कर दैवी गुणों के अंकुर को उखाड़ फेंकते हैं।

दैवी भावों के संस्कार या भगवत् कृपा कटाक्ष पात अथवा सत्संग प्राप्त होने से पुनः आसुरी सम्पत्ति के दोषों पर विजय पाने की अभिलाषा जीव के मन में उत्पन्न होती है। इस प्रकार की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति प्राप्त होने पर कभी मन आसुरी भावों से प्रभावित होता है और कभी दैवी भावों से। निश्चय न पाकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है अतएव अर्जुन की भाँति जब ऐसी सन्देहात्मक समस्या सामने उपस्थित हो तब मानव को भगवन्नाम का जप करते हुये भगवान की शरण में जाकर आत्मनिवेदन कर देना चाहिये। बस भगवान को और क्या चाहिये, वे तो केवल जीव का आभिमुख्य देखकर ही प्रसन्न हो जाते हैं और परमार्थ के प्रशस्त पथ में जीव को आरूढ़ कर अपना सर्वस्व प्रदान कर देते हैं। अपना और उसका भेद मिटा देते हैं, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और षटसम्पत्ति की साकार मूर्ति बना देते हैं, आसुरी दोषों का सर्वथा दमन करके जीव को दैवी गुणों का गेह बनाकर परमार्थ साम्राज्य के सिंहासन में प्रतिष्ठित कर अमृतमय, आनन्दमय बना देते हैं। यही गीता के प्रथम अध्याय का रहस्यार्थ एवं संदेश है।

द्वितीय अध्याय

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णा कुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

न चैतद्विद्मःकतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम–
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।।६।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।७।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।१०।।

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानु शोचन्ति पण्डिताः ।।११।।

संग्राम भूमि के मध्य में अर्जुन की अकर्मण्यता एवं अनौचित्य को देखकर भगवान् वासुदेव जिस प्रकार श्री अर्जुन से पूछते हैं कि "आप विषादपूर्ण अश्रु–प्रवाह करते हुये आकुलेक्षण दिखाई दे रहे हैं। अस्तु इस अनवसर पर ऐसा मोह क्यों ?" अर्जुन उत्तर में अपने बन्धुओं, सुहृदों, सम्बन्धियों को न मारना ही श्रेयस्कर बतलाते हुये भगवान के चरण पकड़ कर प्रपत्ति करते हैं, पुनः प्रार्थना करते हैं कि प्रभो ! मैं धर्म के विषय में मोह को प्राप्त हो गया हूँ, क्या कर्त्तव्य है, क्या अकर्त्तव्य है बुद्धि निश्चय नहीं कर पा रही हैं, मैं आपका शिष्य हूँ, शरण में आया हूँ। अतएव मुझे

उचित मार्ग का उपदेश देकर उसी पथ से ले चलें, जिससे परमार्थ–भ्रष्ट न बनूँ। तब भगवान मन्द–मन्द मुस्कुराते हुये कहते हैं–वाह–वाह ! अपने आप अपने को पण्डित मानने वाले बन्धु ! शोक न करने योग्य के विषय में तुम शोक करते हो और बातें विद्वानों जैसी करते हो, अरे भाई ! पण्डित लोग जो मर गये हैं, उनका सोच नहीं करते और जो जीवित हैं, उनका भी सोच नहीं करते, उसी प्रकार जब मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर कुछ निश्चय न प्राप्त करने के कारण परमात्मा पर निर्भर होता है, तब अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय में प्रतिष्ठित भगवान प्रेरणा देते हैं कि ऐ जीव ! तुम तो बातें वेदत्रयी सम्बन्धी अर्थात् अर्थ, धर्म, काम सम्बन्धी कर रहे हो किन्तु इनका रहस्य और प्रयोजन न समझकर संशय ग्रस्त हो गये हो। अरे भाई! वेदज्ञ लोग, वेद वेद्य परमार्थ स्वरूप परमात्मा के प्राप्ति–पथ के पथिक होते हैं, तुम्हारे जैसे धर्म और ज्ञान के अभिमान का बोझ नहीं ढोते फिरते। उठो ! मोह रात्रि में मत सोओ, जागो–जागो, श्रेष्ठ आचार्य को प्राप्त कर स्वस्वरूप को समझो, परमात्म स्वरूप को समझो और उसकी प्राप्ति के उपाय को समझो। अन्तर प्रेरणा से प्रेरित होकर साधक सद्गुरु का वरण करता है तब आचार्य प्रवर अपने सद्शिष्य को वही ज्ञान प्रदान करते हैं, जो भगवान कृष्ण ने स्वयं आचार्य के आसन पर आसीन होकर अर्जुन को दिया था। आप श्री ने केवल अर्जुन के लिये ही बोध नहीं दिया है, अपितु सम्पूर्ण जगत के लिये दिया है क्योंकि आप स्वयं जगद्गुरु हैं। ''तत्वदर्शी सद्गुरु मेरे ही जैसा ज्ञान का उपदेश देंगे।'' भगवान के इस वाक्य के अनुसार ही मुमुक्षु को सद्गुरु के पास समित्पाणि जाना ही चाहिये अन्यथा अन्य उपाय से परमात्म–ज्ञान का बोध दुर्लभ ही नहीं, अप्राप्त रहता है। अन्धे अर्थात् अज्ञान की मूर्ति धृतराष्ट्र को, ज्ञान–चक्षु संजय से ही गीता का ज्ञान सुलभ हो सका। जब तक जीव की जड़–चेतनात्मक ग्रन्थि को गुरुदेव नहीं खोलते अर्थात् चिदात्मा (चेतन) अन्य तत्व है और अचित (जड़) अन्य तत्व है, दोनों में प्रकाश और अन्धकार का तारतम्य है, ऐसा

बोध बुद्धि में स्थिर नहीं कर देते, तब तक परमार्थ की वार्ता करना वृथा है। अस्तु जैसे देही–देह विभाग का वर्णन श्रीकृष्ण भगवान ने किया है वैसे ही सद्गुरु प्रपत्ति करने वाले सद्शिष्य को उपदेश दें, जिससे जिज्ञासा बढ़कर जीव को पूर्णता का बोध हो जाये। दूसरे अध्याय के उपक्रम का यही रहस्य एवं सन्देश है।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! विद्वानों का यथार्थ बोध जैसा होता है और सर्वभावेन जैसा सत्य से ओत–प्रोत होता है, वह तुम समाहित चित्त होकर श्रवण करो ।

सखे ! वास्तव में "मैं" का अर्थ आत्मा है, देह नहीं। आत्मा देह से उसी प्रकार सर्वथा भिन्न और विलक्षण है—जैसे पिंजड़े में बन्द रहने वाला तोता पिंजड़े से, या जैसे बूसी के भीतर रहने वाला चावल बूसी से। देह अचेतन, परिणामी और विनाशशील है किन्तु आत्मा चेतन, परिणाम रहित और अविनाशी है, अतएव आत्मा के नित्य होने से, आत्म स्वरूप हम, तुम और ये सम्पूर्ण राजा लोग नाशवान नहीं है। इस जन्म के पहिले भी थे और आगे भी रहेंगे, इसलिये पण्डित लोग देह के न रहने से आत्मा के विषय में शोक उसी प्रकार नहीं करते जैसे अण्डे के फूट जाने से अण्डे ही में रहने वाला शकुन शावक।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।१३।।

देहधारी के देह में जिस प्रकार कुमार, युवा और वृद्धावस्था क्रमशः आया करती हैं, उसी प्रकार देहान्तर की प्राप्ति एक के

श्चात् दूसरी हुआ ही करती है, धीर लोग इसमें मोह को नहीं प्राप्त होते जैसे क कक्ष से दूसरे कक्ष में जाने और दूसरे से तीसरे में जाने से मनुष्य को मृत्यु ी विभीषिका नहीं दबोचती। अर्थात् वह भय और मोह को न प्राप्त होकर सहज ी स्वस्थ रहता है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।१४।।

हे कुन्तीसुवन ! सर्दी–गर्मी और सुख–दुख का आभास, इन्द्रिय और विषय संयोग से होता है। यदि इन्द्रिय व उनके विषयों से आत्मा सर्वथा पृथक् है नसे आत्मा का न तो कोई प्रयोजन है और न प्रयत्न करने पर आत्मा का उनसे मिश्रण हो सकता, ऐसा ज्ञान बुद्धि में बैठ जाय तो आत्मा उसी प्रकार अवसादित हीं होता, जैसे घट के भीतर रहनेवाला आकाश घट के गर्म–सर्द होने एवं उसके ट जाने से या उसको चित्र–विचित्र रंगों से सजा देने से दुखी सुखी नहीं होता। तएव उक्त विषयों को अनित्य क्षणभंगुर और प्रकृति सम्बन्ध से सम्बन्धित जानकर हन करो क्योंकि तुम आत्मा हो, आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।१५।।

हे पुरुष प्रवर ! सुख दुख को समान ही समझना चाहिए क्योंकि दोनों देह ही स्पर्श करते हैं आत्मा का नहीं। मन की अनुकूलता को सुख और प्रतिकूलता दुःख कहते हैं–––एक ही वस्तु मन के वैषम्य से सुखमय या दुखमय भासती जैसे चाँदनी रात्रि सबको अच्छी लगती है किन्तु चोर को नहीं, सूर्य सबको खदायी है किन्तु उल्लू को नहीं, दुग्ध, घी पुष्टिकर वस्तु है परन्तु बहुतों को चिकर है बहुतों को नहीं। अतएव जो धीर पुरुष विवेक के द्वारा सुख–दुःख को त्मा का स्पर्श न करने वाले समानतया समझ गये हैं वे अवश्यमेव अमृत अर्थात् क्ष के अधिकारी हो गये हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।१६।।

हे बन्धु ! असत् वस्तु का अस्तित्व कभी नहीं होता जैसे खरहे के श्रंग का और सत् वस्तु का कभी अभाव नहीं होता जैसे आत्मा का। इस प्रकार इन दोनों की अनित्यता और नित्यता का दर्शन ज्ञानी महापुरुषों द्वारा किया गया है। वास्तव में अज्ञान की अन्धी आँखों से जहाँ अंधेरे में कुछ नहीं देखा जा सकता, वहाँ ज्ञान के प्रकाशमय नेत्रों से सब कुछ देखा जा सकता है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।१७।।

उपर्युक्त न्याय सिद्धान्त के अनुसार उस अविनाशी अभावहीन परम सत्य स्वरूप तत्व को जानना चाहिए जिससे यह सम्पूर्ण जगत उसी प्रकार व्याप्त है जैसे जल से बर्फ। इस विनाश रहित अव्यय तत्व का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है जैसे——घट तोड़कर घटाकाश के नष्ट करने में सभी असमर्थ रहते हैं।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।१८।।

नाशभाव को न प्राप्त होने वाले अप्रमेय नित्य स्वरूप इस जीवात्मा के ये सब शरीर उसी प्रकार विनाशशील कहे गये हैं जैसे एक क्षेत्र के आकाश के नीचे कितनी बार घर बन कर बिगड़ते रहते हैं। इसलिए भरतवंश में उत्पन्न होने वाले वीर अर्जुन तुम युद्ध करो, देखो कृषक स्वधर्मानुसार कृषि कार्य करते हैं किन्तु कितने कीड़े–मकोड़े छोटे–मोटे जीव मरेंगे, इस पर वे विचार नहीं करते।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।१६।।

बन्धु ! जो इस अविनाशी आत्मा को मारने वाला मै हूँ, ऐसा समझता है, तथा जो इसको मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही आत्मा और अनात्मा के विषय में कुछ नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा, अकर्ता होने के कारण न किसी की मृत्यु करता और अमृत होने के कारण न किसी से मृत किया जाता जैसे आकाश न किसी को मारता और न किसी से मारा जाता।

न जायतेम्रियते वा कदाचिन्—
नायंभूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः श्वतोऽयं पुराणो—
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२०।।

यह आत्मा न कभी जन्म लेता और न कभी मृत्यु भाव को प्राप्त होता है तथा न कभी होकर पुनः होने वाला होता क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश कभी नहीं होता जैसे वृक्षों के कट जाने से वृक्षों में बसेरा लेने वाले पक्षियों का। बन्धु ! आत्म ज्ञान हो जाने से मनुष्य संशय के कीचड़ से निकल जाता है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्तिकम् ।।२१।।

हे कुन्ती कुमार ! जो इस आत्मा को अविनाशी, अजन्मा, अव्यय और नित्य जानता है वह पुरुष कैसे किसी की मृत्यु करवाने का और कैसे किसी की मृत्यु करने का वृथा अहंकार कर सकता है क्योंकि उसे प्रकृति और पुरुष का ज्ञान भली–भाँति है। भला बताओ जाग जाने पर स्वप्न के प्रपंच को कोई सत्य कह सकता है ? कदापि नहीं ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२२।।

अरे बन्धु ! शरीरों के वियोग के विषय में पण्डित लोग शोक नहीं करते, अतएव आपको इनके विषय में विषाद करना औचित्य का अनादर है क्योंकि जैसे लोक में मनुष्य जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नवीन वस्त्रों को धारण कर लेते हैं, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को विसर्जित कर नये शरीरों को ग्रहण कर लेते हैं।

भाई ! भला विचार तो करो, पुराने वस्त्र के त्याग से क्या किसी को शोक उत्पन्न होता है ? अपितु नवीन वस्त्र पहिनने से मन प्रसन्न होता है ? इसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष इस विषय में शोक से अछूते रहते हैं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।२४।।

पंचतत्व से विनिर्मित शरीर का विनाश तो सहज ही संभव है किन्तु इस आत्मा का अविनाशी पना स्वाभाविक सिद्ध है, न तो इसे शस्त्रादि काट सकते, न अग्नि की ज्वाला जला सकती, न जल गीला कर सकता और न वायु इसे सुखा सकती, क्योंकि यह आत्मा अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य है तथा निःसंदेह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला सनातन तत्व विशेष है। हे अर्जुन ! सूक्ष्य होने के कारण जैसे आकाश को उपर्युक्त बाधायें स्पर्श नहीं कर पाती हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म आत्मा की अमरता में कोई प्रकृति या विकृति भाव विघ्न नहीं पहुँचा सकते।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

हे अर्जुन ! इस आत्मा को कोई इन्द्रियाँ अपना विषय नहीं बना सकतीं अर्थात् इसको न तो नेत्र देख सकते, न श्रवण सुन सकते, न रसना रस ले सकती, न घ्राणेन्द्रिय सूँघ सकती और न त्वक् इन्द्रिय स्पर्श कर सकती, इसलिए यह अव्यक्त नाम से कहा गया है। मन और चित्त इसका मनन व चिन्तन नहीं कर सकते अतएव यह अचिन्त्य है और परिणाम रहित होने से यह अविकारी कहा गया है इसलिए ऐसा आत्म–ज्ञान अवधारण कर तुम्हें शोक करना बिलकुल उचित नहीं है। शोक तो आत्म–ज्ञान विहीन अज्ञानी लोग ही किया करते हैं। भला बताओ कन्दुक की हवा निकल जाने से क्या कोई जानकार शोक करेगा; हाँ अज्ञानी भले प्रलाप कर–करके रोयें कि हाय मेरी वायु कहाँ गई ? तुम्हें कैसे प्राप्त कर सकूँगा? हाय ! तुम्हारे बिना अब मैं भी प्राण परित्याग कर दूँगा। तुम्हारे बिना मेरे जीवन को धिक्कार है, इत्यादि।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वम् शोचितुमर्हसि ।।२७।।

हे मोह प्राप्त बन्धु ! यदि तुम अज्ञानवश इस आत्मा को नित्य जन्म लेने वाला और नित्य मृत्यु को प्राप्त होने वाला मानो तो भी तुम्हें इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है क्योंकि ऐसी मान्यता स्वीकार करने पर इसी निश्चय पर तुम्हें पहुँचना चाहिए कि जो जन्म लेता है, वह अवश्य मरता है और जो मर गया है वह निश्चय ही जन्म धारण करता है। इसलिये जिसे कोई रोक नहीं सकता ऐसे अपरिहार्य के विषय में विद्वान शोक नहीं करते अस्तु तुम्हें भी विशोक बनकर कर्त्तव्य कर्म का अनुष्ठान करना

चाहिए। जंगल में घास उगती है फिर पककर बीज सहित पृथ्वी में विलीन हो जाती है, पुनः वे बीज उगकर घास का स्वरूप धारण करते हैं। भला कोई बुद्धिमान उस घास के लिए शोक करता है ?

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२८।।

वीरवर ! आपके भीष्म आदि प्रतिपक्षियों के शरीर माया से रचे गये हैं, स्वतः सिद्ध नहीं हैं, ये सब लोग जन्म लेने के प्रथम बिना शरीर के थे, और मृत्यु के बाद भी बिना शरीर के हो जायेंगे, केवल बीच ही में शरीर वाले प्रतीत हो रहे हैं, अस्तु शरीर के विषय में क्या चिन्ता ? ऐसा विचार कर तुम्हें शरीर के विषय में शोक नहीं करना चाहिए। बन्धु ! विचारो तो सही बालक लोग गीली मिट्टी के कितने खिलौने बनाकर पुनः उन्हें नष्ट कर देते हैं किन्तु प्रथम में मिट्टी और अन्त में मिट्टी जानकर बीच में बने खिलौनों के लिए शोक नहीं करते।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन–
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।२९।।

हे सखे ! यह आत्मतत्व गहनातिगहन है, अतएव कोई कोई आत्म द्रष्टा परमाश्चर्यवत् चमत्कारपूर्ण इसे देखते हैं, कोई आत्म–विशारद महापुरुष परमाश्चर्यवत् इसके विषय में कुछ कहा करते हैं, अन्य उत्तम जिज्ञासु सदाचार्य से आत्मविषयक वार्ता आश्चर्यवत् श्रवण करते हैं और कोई कोई इस आत्म सम्बन्धी ज्ञान को श्रवण करके भी आत्मबोध से वंचित ही रहते हैं। वास्तव में इस आत्मा को देखकर, श्रवणकर, कह कर, ''इदमित्थं'' नहीं जाना जा सकता इसलिये आश्चर्यवत् ही देखा कहा और

सुना जा सकता है जैसे—नेत्र जिह्वा और श्रवण स्वस्थ होने पर ही सूर्य को देख, कह और सुन सकते हैं किन्तु आश्चर्यवत् ही। पूर्णरूपेण सूर्य में कितना प्रकाश है, कैसे हैं ? कहाँ चलते हैं ? इत्यादि इत्यादि बातों का ज्ञान सूर्यमण्डल में प्रवेश कर अनुभव किये बिना सब आश्चर्यवत् ही रहता है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।

हे अर्जुन ! यह आत्मा सभी शरीरधारियों के शरीर में रहता हुआ शरीर के वध होने पर भी किसी के द्वारा मारा नहीं जा सकता अर्थात् यह सबसे सदा अबध्य है, इसलिए सम्पूर्णभूत समुदाय के लिये तुम्हें शोक करना उचित नहीं है। जैसे लोक में कोई ग्राम उखाड़कर दूसरी जगह बसा लेने पर बुद्धिमान लोग उस गाँव के सहस्त्रों घरों के गिरने और गिराने के विषय में शोक नहीं करते।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।३१।।

हे सखे ! क्षात्र धर्म निष्णात होकर अपने धर्म के प्रतिकूल चलना तुम्हें शोभा के सिंहासन से गिरा रहा है। अहो स्वधर्म पर दृष्टिपात करके तुम भय से सर्वथा मुक्त हो जाओ क्योंकि प्राप्त हुये धर्म युद्ध से बढ़कर कल्याण कारक अन्य कोई कर्त्तव्य क्षत्री के लिये नहीं है, अतएव इस शास्त्रीय सिद्धान्त का समादर करना सर्व भावेन तुम्हें उचित है। अरे बन्धु ! ब्राह्मण को शूद्र—वृत्ति एवं राजा को भिक्षा—वृत्ति से उदर—पोषण करना केवल अशोभनीय ही नहीं है अपितु नरक में निवास करने का मुख्यतम उपाय है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।।

हे पार्थ ! अपने आप किसी बिना साधन के प्राप्त और खुले हुये स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यशाली क्षत्री लोग ही प्राप्त करते हैं। विचार करो, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र यावज्जीवन स्वधर्म के कठोर तप का अनुष्ठान करते–करते मृतप्राय हो जाते हैं, तब कहीं स्वर्गलोक की प्राप्ति उन्हें होती है अतएव शास्त्रीय वचनों का स्मरण करो और क्षत्रियोचित कर्म करने के लिये विषाद छोड़कर तैयार हो जाओ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।३३।।

बन्धु ! यदि तुम इस धर्म स्वरूप संग्राम को न करके विमुख हो जाओगे तो स्वधर्म और सुन्दर यश को विनष्ट करके पाप को प्राप्त होगे अर्थात् पापियों की पंक्ति में बैठाये जाओगे जैसे वेद विहीन ब्राह्मण ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञों की पंक्ति में बैठने का अधिकारी नहीं होता अपितु वह सबकी दृष्टि से गिरा हुआ अन्त में यम–यातना का ही पात्र बनता है, वैसे ही अपने विषय में भी तुम्हें समझ लेना चाहिए।

अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्ति–
र्मरणादतिरिच्यते ।।३४।।

अर्जुन ! बहुत समय तक स्थिर रहने वाली तुम्हारी अपकीर्ति को भी सब लोग कहा सुना करेंगे, भला सोचो तो सही संभावित माननीय महापुरुष के लिये वह अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर होती है अर्थात् मर जाना अच्छा किन्तु निन्दा का पात्र बनकर जगत में जीना अच्छा नहीं। लोक–कथा प्रसिद्ध है कि एक भले आदमी को उसका एक अपराध देखकर राजा ने केवल इतना कह दिया था कि तुमने यह अच्छा काम नहीं किया, उस

पुरुष को वह बात लग गई और कहीं अन्यत्र जाकर उसने अपना प्राण परित्याग कर दिया। अतएव हे भाई ! तुम्हें युद्ध से मुँह मोड़ना अत्यन्त अनुचित एवम् निंदनीय कार्य करके निन्दा का पात्र बनने का प्रयास करना है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

हे सखे ! जिनसे तुम नित्य सम्मानित होते थे उन्हीं महारथियों के द्वारा अब तुच्छ दृष्टि से देखे जाओगे क्योंकि वे लोग तुम्हें भयभीत होकर युद्धभूमि से भाग गया हुआ समझेंगे–जैसे पूर्वपक्ष, उत्तर पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ करने वाले शास्त्रज्ञों में से कोई एक उत्तर न देकर सभा से चुपके से चला जाय तो उसे इतर लोग अवैदिक, अनभिज्ञ, अपढ़ और भीरु समझकर उसकी हँसी उड़ाने में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। उसी प्रकार तुम भी अपने प्रतिपक्षियों से हास्यास्पद–दृष्टि से देखे जाओगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।३६।।

वीरवर ! युद्ध न करने का परिणाम कितना कटु एवं दुःखद होगा विचार तो करो। तुम्हारे बैरी लोग तुम्हें सामर्थ्यहीन कहेंगे और न कहने योग्य अवाच्य वाक्य बाणों का प्रहार करेंगे, जिसकी चोट खाकर कराहते हुये हाय हाय चिल्लाते रहोगे। भला बताओ तुम ऐसे अद्वितीय धनुर्धर के लिये डरपोक, कायर, मोहग्रस्त, क्षत्रियाधम, युद्धविमुखी, कुल–कलंकी और पामर आदि शब्दों का प्रयोग करेंगे, तब तुम्हें कितना महान दुःख होगा। अस्तु, इन सब बातों पर विचार कर युद्ध के लिये तैयार हो जाओ।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।३७।।

हे प्राज्ञ ! उपर्युक्त तर्कों का विचार करने से युद्ध करना ही श्रेयस्कर होगा। रणभूमि में लड़कर यदि मर गये तो तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी या जीत गये तो पृथ्वी का भोग भरपूर प्राप्त करोगे, इसलिये हे अर्जुन दृढ़निश्चयी बनकर अब युद्ध करने के लिये खड़े हो जाओ। कोई भी क्षत्रिय कुमार समर से विमुख न होकर काल से भी संग्राम करने के लिये तैयार रहता है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभा—लाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।३८।।

हे सखे ! यदि तुम कहो कि हमें न राज्य की इच्छा है न स्वर्ग की, तो भी क्षत्रिय धर्म की अर्हता का अनुसंधान करके तुम्हें अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिए। कामनाहीन पुरुष भी स्वधर्माचरण से कभी मुख नहीं मोड़ते। वे सुख—दुःख लाभ—हानि और जय—पराजय को समान समझते हुये कर्त्तव्य—कर्म में आरूढ़ होकर भी कर्मफल में लिप्त नहीं होते, इसलिये इस प्रकार समबुद्धि का अवलम्बन लेकर यदि युद्ध करोगे तो लोगों के मारने का पाप तुम्हें स्पर्श न कर सकेगा। जैसे स्वप्नावस्था के पाप—पुण्य जीवात्मा को नरक व स्वर्ग देने वाले नहीं होते, उसी प्रकार यदि बुद्धिमान पुरुष जाग्रत अवस्था के सुख दुःखादि द्वन्द्वों को स्वप्नवत् समझकर उनसे आसक्ति रहित हो जाता है तो उसे कर्मफल लिप्त नहीं कर सकते क्योंकि वह पुरुष न तो आत्मा को कर्त्ता समझता और न भोक्ता, वह सब कुछ करके भी कुछ नहीं करता। उसकी ज्ञान दृष्टि में यह सत्य सूझता है कि इन्द्रियाँ ही अपने अर्थों में विचर रहीं हैं, अर्थात् गुण ही गुण में बर्तते हैं, आत्मा निर्लेप अकर्ता नित्य, शुद्ध—बुद्ध और मुक्त है।

एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमांश्रृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्म बन्धं प्रहास्यसि ।।३६।।

हे बन्धु ! उपर्युक्त ज्ञान योग विषयक बुद्धि का विवेचन तुम्हें प्रबुद्ध बनाने

के लिये मैंने किया है अब उसी को निष्काम कर्मयोग के विषय में श्रवण करो, जिसके द्वारा तुम कर्मों के बन्धनों को भली–भाँति विनाश करने में समर्थ हो सकोगे। जैसे संग्राम में व्यूह–भेद को जानने वाला वीर, व्यूह का विनाश करके विजयी होता है किन्तु उसके भेद को न जानकर वीराभिमानी भी चंगुल में फँसकर अपना सर्वनाश कर लेता है, उसी प्रकार निष्काम कर्मयोग के रहस्य को समझकर कर्म–क्षेत्र में उतरने से पुरुष को कर्मलिप्त नहीं कर सकते।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।४०।।

हे अर्जुन ! इस निष्काम कर्मयोग के रहस्य का वैलक्षण्य यह है कि इसके अभिक्रम (बीज) की शक्ति का ह्रास नहीं होता किन्तु फलरूप दोषों का सर्वथा विनाश हो जाता है जैसे लक्ष्य न करके यदि बाण छूटता है तो उसकी शक्ति का ह्रास नहीं होता और लक्ष्य भेद रूप फल की प्राप्ति नहीं होती अतएव इस निष्काम कर्म योग का थोड़ा सा भी साधन जन्म–मृत्यु रूप महान भय से मुक्त करने वाला सिद्ध होता है। जैसे वेतन न लेने वाले सेवक को वेतन लेने वाले की भाँति अहर्निशि चिन्तामग्न होकर परवशता की बेड़ी से जकड़े नहीं रहना पड़ता, उल्टे उसका स्वामी उसके वश होकर उसे अपने से भी अभयी बना देता है और समय आने पर अपना सर्वस्व देने में तैयार रहता है, उसी प्रकार निष्काम कर्म द्वारा भगवान की सेवा करने से जीव को कर्म के फल नहीं भोगने पड़ते, उल्टे प्रभु ही उसके अधीन हो जाते हैं, सबसे अभयी बना देते हैं और अपना सर्वस्व परमपद देकर आवागमन से मुक्त कर देते हैं।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।४१।।

हे कुरुनन्दन ! इस निष्काम कर्मयोग रूपी कल्याण मार्ग में केवल

कर्त्तव्य दृष्ट्या स्वधर्म का अनुष्ठान करना है, ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है और अज्ञानी अनिश्चित बुद्धि वाले सकामी पुरुषों की बुद्धि बहुत भेदों वाली अनन्त हुआ करती हैं जैसे—भूमि भाग सिंचन के लिये निकाली हुयी बड़ी नहर में बहुत सी छोटी–छोटी शाखायें होती हैं। वे अपनी अनेक कामनाओं की सिद्धि के लिये अनेकानेक कर्मों का अनुष्ठान अनेकानेक विधियों के साथ अनेकानेक देवी देवताओं की प्रसन्नता के लिये किया करते हैं और फल के अभाव में शास्त्रों, याज्ञिकों, कर्मविधियों और ईश्वर या देवी देवताओं पर कोटि–कोटि कुतर्क करने लगते हैं, इसलिये सकामियों की बुद्धि को अव्यवसायिनी और अनन्त कहा गया है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरतः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।।४२।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म कर्मफलप्रदाम ।
क्रियाविशेष बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।४३।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।४४।।

हे अर्जुन ! भोगैश्वर्य में जो असक्त हैं, जो केवल फलश्रुति में राग रखने वाले तथा स्वर्ग ही परम प्राप्य श्रेष्ठ वस्तु है, इससे बढ़कर और कोई आनन्द नहीं जिसे पुरुषार्थ की संज्ञा दी जाय, ऐसे कहने वाले सकामी, विवेकहीन मनुष्य जन्म मरण रूप कर्म–फल प्रदान करने वाली अर्थात् संसार चक्र में सतत घुमाने वाली और भोगैश्वर्य प्राप्त करने के लिये अनेक क्रियाओं के विस्तार वाली कोमल कोमल मीठी मीठी वाणी का प्रयोग करते हैं, जिसे श्रवण कर भोगैश्वर्य प्रसक्तों का विषय–प्रवण इतना परिवर्द्धित हो जाता है कि वे अपने अन्तःकरण को वहाँ से उसी प्रकार नहीं पृथक कर सकते हैं जैसे मृग वीणा नाद से। भाई ! जैसे मृग, वीणा नाद में

आसक्त मन वाला होने से बधिकों के चंगुल में फँस जाता है, उसी प्रकार सकामी संसारी मनुष्य उपर्युक्त प्रकार की पेशल वाणी को आसक्त मना सुनकर संसार चक्र में फँसकर उसी में परिभ्रमण किया करते हैं। उनके अन्तःकरण में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती इसलिये वे परमार्थ प्राप्ति के योग्य एक बुद्धि वाले अर्थात् दृढ़ निश्चयी नहीं होते।

त्रैगुण्यविषया वेदानिस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वोनित्यसत्त्वस्थोनिर्योगक्षेम आत्मवान् ।।४५।।

हे बन्धु ! सब वेद तीनों गुणों (सत, रज, तम) को विषय बनाने वाले होते हैं अर्थात् त्रयी धर्म का वर्णन करके अर्थ, धर्म और काम के प्रलोभन से संसार की परिवृद्धि करने वाले होते हैं, अतएव तुम त्रिगुणातीत अर्थात् संसृति विस्तारक धर्म का स्पर्श न करके आध्यात्मिक उन्नति प्रदान करने वाले आचरणों को अपनाओ, जिससे परमार्थ की प्राप्ति कर सको। अस्तु, तुम सुख–दुःखादि द्वन्द्वों से रहित नित्य तत्व में स्थित और अपने योग–क्षेम की चिन्ता छोड़कर आत्मा में रत रहने वाले महान पुरुष बनो। भाई ! कोई भी आत्म–कल्याण कामी पुरुष विषमिश्रित मीठे मलाईदार दूध को जानकर क्या पी सकता है ? नहीं पी सकता, इसी प्रकार विद्वान लोग चिकने चुपड़े क्षणिक मृत्यु स्वरूप संसारी सुख–दुखों की ओर मुख नहीं मोड़ते।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।४६।।

सखे ! सुन्दर पवित्र मीठे अमृत स्वरूप स्वास्थ्य प्रदान करने वाले बड़े जलाशय को प्राप्त करके जल के लिये कोई बुद्धिमान पुरुष जैसे छोटे जलाशय की आवश्यकता नहीं समझते, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाने पर आनन्द के लिये वेदों की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् ब्रह्म–प्राप्त पुरुष को वेद के विधि–निषेध से प्रयोजन नहीं रहता अतएव सुख के लिये उसे आत्मा के अतिरिक्त अन्य की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

हे अर्जुन ! इसलिये आत्म–स्थिति तो तुम्हारी होनी निरुपाधिक है ही, किन्तु देहधारी होने के कारण बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता, अतएव कर्म करने में तो तुम्हारा अधिकार है अर्थात् स्वतंत्रता पूर्वक कर्म कर सकते हो किन्तु फल में अपने को अनाधिकारी समझो अर्थात् फल की कामना त्यागकर ही कर्म करने में प्रवृत्त हो। साथ ही तुम्हें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कर्म करने में हमारी आसक्ति तो नहीं है क्योंकि आसक्ति पूर्वक किये गये कर्म बन्धन के हेतु होते हैं, इसलिये कर्म करने में अधिक रुचि लेना तुम्हें उचित नहीं होगा। जैसे–कोई यात्री मार्ग चलता है, साथ ही पथ में पड़ने वाले वन, पर्वत, नदी, तालाब, पुर, गाँव और नगर आदि अनेक दृष्य देखता जाता है किन्तु वह किसी में आसक्त न होकर ही अपना पथ पूरा करता है, उसी प्रकार, कर्मक्षेत्र में उतरे हुये परमार्थ पथ के पथिक को कर्म में आसक्ति, फलाशा और कर्तृत्वाभिमान को त्यागकर ही लोक संग्रहार्थ या भगवदर्थ कर्त्तव्य कर्म करना चाहिए।

योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धय सिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योगं उच्यते ।।४८।।

हे बन्धु धनंजय ! आसक्ति तथा फल की कामना को सर्वथा त्यागकर सिद्धि में समान बुद्धि वाले बनकर योग में स्थित हुये योगियों जैसे कर्मों को तुम करो, यदि कहो कि योग में स्थित होना हम नहीं जानते तो सुनो, सिद्धि–असिद्धि, लाभ–हानि, जय–पराजय, सुख–दुःखादि द्वन्द्वों में समत्व भाव से स्थित रहना ही योग में आरूढ़ रहना कहा जाता है अर्थात् इसी रहनि का नाम योग है। जैसे किसी धर्मशाला में पुण्यात्मा पापात्मा दोनों ही ठहरते हैं परन्तु धर्मशाला दोनों से असंग रहता है, उसी प्रकार मनुष्यों के अन्तःकरण में सत्–रज और तम गुणों के द्वारा द्वन्द्वों की दशायें आती

जाती रहती हैं, व्यवहार दशा में उनका ज्ञान भी होता है किन्तु मुमुक्ष को इनसे असंग ही रहना चाहिए।

दूरेण ह्यवरं कर्मबुद्धि योगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।४६।।

हे अर्जुन ! इस समत्व रूप बुद्धि योग से सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ उसी प्रकार है जैसे प्रकाश से अन्धकार, इसलिये तुम समत्व रूप बुद्धियोग का ही आश्रय ग्रहण करो, सकाम कर्म–योग को दूर से ही त्याग दो, उसको अपने बुद्धि, मन, इन्द्रिय और देह का स्पर्श करने न दो क्योंकि फल की कामना रखने वाले अत्यन्त दीन होते हैं, उनकी दीनता का दुःख स्वर्ग में भी उनका पीछा नहीं छोड़ता। भाई ! किसी मन के रोगी को भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति होने पर भी शान्ति का अनुभव करते नहीं सुना गया है, वास्तव में शान्ति सुख की संप्राप्ति तो त्याग से ही होती है। कंचन के गमले और लोहे के गमले का आग्रह न करने वाली बेलि किसी भी जगह अपने स्वरूप में स्थित रहती हुई जैसे केवल कर्तव्य का पालन करती है और अपने लिये उसका मूल, शाखा, पत्र, पुष्प फल कुछ भी हो, ऐसा कभी चित्त में चिन्तन भी नहीं करती, इसी प्रकार बन्धु ! तुम्हें भी अपना जीवन निर्माण करना चाहिए।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।५०।।

हे सखे ! समत्व बुद्धि योग में आरूढ़ पुरुष पुण्य, पाप दोनों को इस लोक में ही त्यागकर उनसे अलिप्त हो जाते हैं, इसलिये तुम भी समत्व बुद्धि योग ही में स्थित होकर जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करो क्योंकि कर्म–कौशल्य यही है कि समत्व बुद्धि योग में स्थित रहकर कर्म करता हुआ भी जीव कर्म के बन्धन से न बँधे अर्थात् पुण्य–पाप के फलस्वरूप

सुख–दुख भोगने के लिये संसार चक्र में परिभ्रमण न करे, अन्यथा अकुशल कर्मनिष्ठ की तरह इस योग का निरादर करके सकाम कर्म का आश्रय ग्रहण करने से नर्क–स्वर्ग, दुःख सुखादि द्वन्द्व की चक्की में पड़कर सतत पिसते रहोगे क्योंकि देहाभिमानियों की यह दुर्दशा नियति से निश्चित है, वहाँ आत्मा के विषय की स्मृति से हीन, दीनता के दर्शन, सुख–दुख दोनों में दिन रात होते हैं। देखो भाई ! जिस प्रकार नदियाँ निष्काम बहना रूप कर्म करके महाअम्बोधि में मिल कर परम शान्ति को प्राप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार यह जीवात्मा देह की धरा में समत्व बुद्धि योग से कर्म की विमल धारा बहाता हुआ शान्ति के सागर परब्रह्म परमात्मा को निश्चय प्राप्त हो जाता है, अतएव हमारे वचनों का सम्मान करना तुम्हें अन्धकार से प्रकाश में निश्चय ले जायेगा, इस निश्चय से अडिग बने रहो।

कर्मजं बुद्धियुक्ताहि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदंगच्छन्त्यनामयम् ।।५१।।

उपर्युक्त समत्व बुद्धि योग से युक्त कितने ज्ञानी महात्मा कर्मों से उत्पन्न होने वाले फलों को मन से सर्वथा त्याग करके जन्म–मरण से रहित, निरामय, निर्दोष अर्थात् अमृतमय, परमात्मा के परमधाम को प्राप्त हो गये हैं, हो रहे हैं और होंगे ! बन्धु वृत्रासुर एवं जनकादि राजा हमारे इस कथन के परम पुष्ट प्रमाण हैं, ये लोग इसी बुद्धि–योग का आश्रय ग्रहणकर यावज्जीवन अलिप्त कर्मों का अनुष्ठान करते रहे और अन्त में कर्मफल से असंग होने के कारण परमपद की प्राप्ति किये। कर्तापन, कर्म, क्रिया और कर्म फल का भोग सबके सब प्रकृति संबन्ध से ही भासते हैं, यदि जीव इनसे अलिप्त हो जाय अर्थात् कर्त्तत्व भाव, भोक्तृत्वभाव उसका हट जाय तो वह आत्मभाव अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति में स्थित रहने वाला अप्राकृत हो जाता है इसलिये वह अप्राकृत देश अर्थात सर्वात्म स्वरूप परमात्मा के धाम में उसी प्रकार प्रवेश कर जाता है जैसे विद्युत, विद्युत युक्त स्थान में।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

हे अर्जुन! समत्व बुद्धि योग में स्थित हो जाने की पहिचान यह है कि जब तुम्हारी बुद्धि मोह के दलदल से पार हो जायेगी, अर्थात् ममता रूप मृत्यु के चंगुल से छूट जायेगी, उस समय अमुक कर्म का अमुक फल, अमुक कर्म का अमुक फल की गाथा जो त्रयी धर्म के ज्ञाता अर्थात् अर्थ, धर्म, काम की पूर्णतया प्रतिष्ठा कराने वाली वर्णन किया करते हैं, उस श्रवण करने योग्य कर्ण प्रिय वार्ता से एवं सुनी हुई वार्ता से तुम्हें परम वैराग्य हो जायेगा और वितृष्ण होकर तुम परमात्म प्राप्ति प्रदायक चर्चा के सुनने, मनन करने, निदिध्यासन करने में रत हो जाओगे तथा तदाकार वृत्ति वाले बनकर जीते जी ही अमृत बन जाओगे। बन्धु! महुए के मादक पूर्ण लड्डू की गाथा तभी तक रुचिकर प्रतीत होती है जब तक दूध के सार–भूत खोये में अमृतमय विविध वस्तुओं को मिलाकर बने हुये लड्डू की चर्चा कान में न आई हो, इन उत्तम लड्डुओं के सामने सज्जन, महुए के लड्डू का नाम सुनकर ही छी–छी करने लगते हैं। इस योग में स्थित होकर तुम्हारा अनुभव ही स्वयं प्रमाण हो जायेगा, बहुत कहने की आवश्यकता नहीं अस्तु, अब इस बुद्धि योग में तुम भी स्थित हो जाओ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।५३।।

अनेक प्रकार की कामना के पूर्तिपरक श्रुति सिद्धान्तों के श्रवण करने के कारण प्राकृतिक भोगों की माधुरी से मोहित विचलित बुद्धि, जब परमात्मा के स्वरूप में स्थित अर्थात् अचल हो जायेगी तब तुम समत्व बुद्धिरूप योग को प्राप्त हो सकोगे। बन्धु! प्रकृति में जैसे परिणाम अहर्निशि दृष्टिगोचर होता है वैसे ही प्राकृत भोगों में लगी हुयी बुद्धि बात बात में विचलित होकर बदलती रहती है और यथा परमात्मा अपरिणामी है तथा

परमात्मा में लगी हुयी बुद्धि भी अचल और अपरिणामी हो जाती है, यह तुमको सहजतया समझ लेना चाहिये। परमात्मा में लगी हुयी बुद्धि की स्थिरता को ही समाधि कहते हैं। भाई ! तृषावन्त के देह–इन्द्रिय, मन बुद्धि सबके सब जैसे जलाशय की ओर सहज ही उन्मुख होकर उसे प्राप्त करके ही रहते हैं वैसे ही कल्याण–कामी मुमुक्षु की बुद्धि परमात्मा में स्थिर होकर ही विश्राम पाती है।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

भगवान कृष्ण के अन्तः प्रकाशक उपर्युक्त वचनों को श्रवण कर अर्जुन को मोहान्धकार की निवृत्ति जैसी अन्तःकरण में तुरन्त आभासित होने लगी, उनकी सोती हुई जिज्ञासा जग गई, आत्मा के प्रतिबिम्ब की झलक बुद्धि के आदर्श में पड़ने लगी। और कामना की कुमुदनी ज्ञानालोक से संकुचित हो गई, वे सम्पुट–पाणि पूछने लगे, हे केशव ! समाधि में स्थित स्थिर बुद्धि युक्त पुरुष का लक्षण क्या है ? और स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ? अर्थात् उसकी चर्या किस प्रकार की हुआ करती है, इस विषय की जानकारी प्राप्त करके ही तो आपके आदेश का अनुसरण करने में प्रयास कर सकूँगा। वास्तव में जिज्ञासु के संशय को दूर करने वाला गुरु का उत्तर ही यथार्थ जिज्ञासु को सामर्थ्य एवं साध्य की प्राप्ति कराने वाला होता है। व्यावहारिक वस्तुओं एवं व्यावहारिक आचरणों का ज्ञान भी जब व्यवहार कुशल गुरुजनों के बिना अप्राप्त रहता है, तब आध्यात्मिकज्ञान की उपलब्धि के लिये आप जैसे सद्–आचार्य की आवश्यकता अवश्यमेव मुमुक्षु जिज्ञासा को होनी स्वाभाविक है, अतएव मेरे अज्ञान की ओर अदृष्टि रखते हुये धृष्टता के अपराध को क्षमा करें और मेरे किये हुये प्रश्नों के यथार्थ बोध परक उत्तर

देने की कृपा करें, जिससे यह आपका जन, बोधस्वरूप हो जाय।

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।५५।।

अर्जुन की वास्तविक एवं बलवती जिज्ञासा को जानकर भगवान श्रीकृष्णजी महाराज बोले । हे सखे ! जिस काल में मनुष्य मन में स्थित सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग कर देता है तथा अपनी आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है अर्थात् आनन्द की प्राप्ति के लिये आत्मा के अतिरिक्त किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न किसी के मन से स्थित ही होता, उस समय वह स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है। बन्धु ! आत्मा ही आनन्द का अक्षय कोष है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकृति तत्व में आनन्द का अंश उसी प्रकार नहीं है जैसे बालू में तेल का। प्रकृति में जो क्षणिक एवं कटुफल देने वाले आनन्द का आभास मात्र होता है, वह आत्मा की सकाशता से ही है इसलिये बुद्धिमान पुरुष अक्षय, अमृत–मय आनन्द की प्राप्ति के लिये आत्मा ही में रमण किया करते हैं। जैसे आम रस के प्रेमियों का मन आम के ऊपरी आवरण व अन्तर की गुठली में नहीं लगता वैसे ही विशुद्धानन्द के प्रेमी बाह्य करण एवं अन्तःकरण को आनन्द के लिये उपेक्षित ही समझते हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभय क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६।।

हे अर्जुन स्थिति–प्रज्ञ का मन दुःखों की प्राप्ति दशा से उद्वेगित नहीं होता और न सुखों की प्राप्ति के लिये स्पृहा करता क्योंकि वह सुख–दुःख को प्रकृति में देखता है, आत्मा में नहीं। जब वह अपने को आत्मा समझने लगता है, देहाभिमान दूर हो जाता है तब वह अपने में सुख–दुःखादि द्वन्द्वों

का स्पर्श भी नहीं पाता, इसलिये वह दुःख में उद्वेग को प्राप्त होकर सुख की स्पृहा कैसे करे। साथ ही उस स्थितप्रज्ञ के राग, भय और क्रोध भी नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि जब दुःख में उद्वेगित ही नहीं होता और सुख की कामना ही नहीं करता तब दुःख न आने की भावना और दुःख छूट जाने पर प्रसन्नता (दुःख से द्वेष) और सुख बना ही रहे ऐसी इच्छा या चले जाने से दुःख (सुख में राग) कैसे उत्पन्न हो। अनुकूलता की अनुपस्थिति एवं प्रतिकूलता की उपस्थिति से क्रोध उत्पन्न होता है परन्तु जब आत्मा में सन्तुष्ट रहने वाले के मन से अनुकूलता–प्रतिकूलता से प्रयोजन ही हट गया है तब क्रोध कैसे उत्पन्न हो।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५७।।

जो पुरुष सर्वत्र संसार के सभी प्राणियों–पदार्थों और परिस्थितियों से स्नेह अर्थात् राग रहित है, शुभ और अशुभ अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुओं को प्राप्त कर न प्रसन्न होता है और न द्वेष ही करता है वह स्थिर बुद्धि वाला है। सखे ! स्थिर बुद्धि वाले के मन में कभी अशान्ति का स्पर्श नहीं होता, वह अचल प्रतिष्ठा वाला होता है, उसे द्वन्द्व डिगाने का प्रयत्न करने पर भी नहीं डिगा सकते, कुत्ते भोंकते ही रहते हैं किन्तु हाथी अपनी मस्ती से ही चलता है। स्वर्ण के मोर को चाहे पिंजड़े में रखो चाहे खुले मैदान में किन्तु वह दोनों स्थिति में अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है, ठीक इसी प्रकार स्थित प्रज्ञ भी आत्म–स्वरूप में ही स्थित रहता है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

हे अर्जुन ! जैसे कछुआ अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है, वैसे ही जब साधक मनुष्य अपनी इन्द्रियों को सब ओर से इन्द्रियों के विषयों से अलग कर लेता है अर्थात् उसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर नहीं

दौड़ने पातीं तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है। जैसे गायें चरवाहे के आधीन होकर गोष्ठ में जब बैठ जाती हैं तथा चरी हुई घास को जुगाली द्वारा पचाने लगती है, तब घास चरने की ओर वे प्रवृत्त नहीं होतीं, उसी प्रकार साधक के आधीन होकर इन्द्रियाँ अपने स्थान में निर्विषय स्थित हो जाती हैं तथा भोगे हुए विषयों की पूर्व प्रवृत्ति पर पश्चात्ताप एवं घृणा कर–करके वासना को नष्ट कर देती हैं, तब सहज स्थिरता आ जाती है जो साधक को स्थितप्रज्ञ के सिंहासन में बैठाने वाली होती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निर्वतते ।।५६।।

सखे ! केवल इन्द्रियों को निर्विषयी बना देने मात्र से पूर्ण सफलता मिल जाती है, ऐसा नहीं समझ लेना क्योंकि इन्द्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करने से मनुष्य के केवल विषय ही निवृत्त होते हैं परन्तु राग की निवृत्ति नहीं होती किन्तु जो परमात्मा का दर्शन कर लेता है, अर्थात् साक्षात् कर लेता है, उस पुरुष का राग भी निवृत्त हो जाता है। जैसे मीठे भोजन न करने का दृढ़ संकल्प कर लेने पर भी पूर्व अभ्यास के कारण मीठे पकवान को देखकर मन चला ही जाता है तथा भोजन की प्रशंसा करने की ओर प्रवृत्त हो जाता है किन्तु जो भोजन के रहस्य को, प्रयोजन को, विधि को तथा भोजन के ग्रहण करने वाले को अच्छी तरह समझ लिया है, उसमें अधिकार कर लिया है तथा अपनी आत्मा को अभोक्ता जान गया है, उसका भोजन से सर्वथा राग निवृत्त हो जाता है।

यततोह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियांणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।६०।।

हे सखे ! इन्द्रियाँ बड़ी ही बलवती और अपने विषय में अत्यन्त आसक्ति रखने वाली होती हैं, इसलिये प्रयत्न करते हुये बुद्धिमान साधक के मन को भी प्रमाथी स्वभाव वाली ये इन्द्रियाँ बलात्कार हरण कर अपने विषय

की ओर उसी प्रकार खींच ले जाती हैं, जिस प्रकार हरी–हरी कोमल–कोमल घास को देखकर घोड़ा अपनी पीठ पर बैठे हुये साधारण सवार को अपने विषय की ओर उसके न चाहते हुये भी खींच ले जाता है। अतः बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि सर्वभावेन सबसे श्रेष्ठ हृषीकेश का आश्रय ग्रहण कर उनके परायण बना रहे जिससे ये इन्द्रियाँ उसके वश में सुमगता से हो जाँय।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६१।।

हे बन्धु ! जब पुरुष इस प्रकार मत्पर अर्थात् मेरा आश्रय ग्रहण कर मेरे परायण हो जाता है तब उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं और इन्द्रियों के जीत लेने पर वह योग में स्थित अर्थात् समाहित चित्त वाला हो जाता है तथा बुद्धि स्थिर हो जाती है। जैसे समस्त भूमि को अपने वश में कर लेने से राजा सार्वभौम सत्ता वाला चक्रवर्ती सम्राट कहा जाता है वैसे ही सर्वेन्द्रियों को अपने आधीन कर लेने पर पुरुष योगी और स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायतेकामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।६३।।

हे सखे ! यदि मुझ हृषीकेश का आश्रय ग्रहण कर मेरे परायण हुये बिना अर्थात् मेरी कृपा का बल त्याग करके जो यत्न करता है, वह मन सहित इन्द्रियों को वश में तो तत्काल कर नहीं पाता क्योंकि पूर्व अभ्यास के कारण मन विषयों का चिन्तन करने लगता है और विषयों के चिन्तन से विषयों के प्रति आसक्ति परिवर्धित होती जाती है तथा आसक्ति से विषयों के भोगने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। यदि कामना की पूर्ति न हुई

तो वही काम, क्रोध के रूप में परिवर्तित हो जाता है, पुनः क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़ता आ जाती है, अविवेकता के आने पर स्मृति भ्रष्ट हो जाती है अर्थात् बहुत भ्रमित हो जाती है, स्मृति के भ्रष्ट होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नाश होने पर साधक का अपने श्रेय साधन से पतन हो जाता है। जैसे सेना, सेना के अधीश्वर की संकेत शक्ति के बिना स्वेच्छा पूर्वक शत्रु का सामना करे तो विजयी न बनकर उल्टे शत्रु के वश में हो जाती है अर्थात् शत्रु या तो कैद कर लेता है या मार डालता है। ठीक वैसे ही परमात्मा का बल परित्याग कर प्रयत्न करने वाले मन बुद्धि इन्द्रियों के वश में होकर विषय की खाई में गिर जाते हैं।

राग द्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।६४।।

परन्तु ईश्वर कृपा का सहारा लेकर अपने आधीन अन्तःकरण रखने वाला पुरुष, राग–द्वेष के बिना इन्द्रियों द्वारा विषयों का उपभोग करता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता प्राप्त करता है। बन्धु ! जैसे मिट्टी के पात्र को यह अपेक्षा नहीं कि मुझमें अमुक वस्तु रक्खी जाय या अमुक उपयोग में आऊँ किन्तु किसी विधान से उसमें घी, मक्खन, दूध, दही, मट्ठा आदि खट्टे मीठे पुष्टकर वस्तुओं के रखने का संयोग लगने पर भी वह पात्र उनमें आसक्त न होता हुआ अधिक अच्छा पुष्ट, सचिक्कन एवं निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार आसक्ति रहित पुरुष विधि के विधान से इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ भी अन्तःकरण की प्रसन्नता को ही प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योप जायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

सखे ! उस प्राप्त हुये आध्यात्म प्रसाद (निर्मलता) से पुरुष के सम्पूर्ण दुःख अशेषतया अभाव को प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त हुई चित्त की प्रसन्नता

से बुद्धि बहुत शीघ्र भली भाँति स्थिर हो जाती है जैसे—लोक में बरसाती नदी के गंदले पानी पीने को न मन पड़ता और न बुद्धि ही सुझाव देती है, परन्तु घड़े में उसी जल को लेकर निर्मली छोड़ देने से जब जल निर्मल हो जाता है तब उसे देखकर मन प्रसन्न हो जाता है और बुद्धि उसके पीने का विमर्श देने के लिये स्थिर हो जाती है उसी प्रकार प्रभु कृपा से साधक सत्संग के द्वारा जब विषयों से वितृष्ण होकर आसक्ति रहित हो जाता है तो उसमें निर्मलता आ जाती है, चित्त प्रसन्न हो जाता है और चित्त की प्रसन्नता से बुद्धि में स्थैर्य आ जाता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
ना चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।

हे अर्जुन! अयोगी (साधन शून्य) पुरुष के अन्तःकरण में निश्चयात्मिका उत्तम बुद्धि का निवास उसी प्रकार नहीं होता जैसे जंग लगे हुये छुरे में बिना सान चढ़ाये पैनी धार नहीं आती, इसलिये उस कुयोगी के हृदय में आस्तिकता भी नहीं होती और आस्तिक भाव न होने के कारण उसके चित्त में भी शान्ति का निवास नहीं होता। अस्तु—उस अशान्त पुरुष को सुख के स्वप्न का भी दर्शन उसी प्रकार नहीं होता जैसे नित्य नव—नव पति का अन्वेषण करने वाली पुंश्चली नारी की न बुद्धि स्थिर होती न आस्तिकता ही रहती, जिससे उसका चित्त चंचल और अशान्त बना रहता है तथा अशान्त रहने से पूर्ण काम हो जाने का सुख भी नहीं होता।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६८।।

बन्धु! जल में चलती हुई नाव को जैसे वेगवान वायु खतरे में पहुँचा

देता है, वैसे ही इन्द्रियों के विषयों में विचरते हुये मन के वेग को समझो। वह जिस इन्द्रिय के साथ लगा रहता है, वह एक ही इन्द्रिय कुयोगी पुरुष की बुद्धि हरण करने में समर्थ हो जाती है, इसलिये हे महाबाहो ! उसी पुरुष की बुद्धि सदा स्थिर रहती है जो अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों के वश में नहीं होने देने में सर्वथा समर्थ है जैसे भीलनी का मन, सोने–चाँदी, हीरा–जवाहरात को देखकर नहीं ललचाता और न उसके विषय में कुछ जानने की इच्छा ही होती क्योंकि उसके अन्तःकरण में सहज सन्तोष भरा रहता है अतएव उसकी बुद्धि भी स्थिर रहती है, वैसे ही विषय भोग से उपरत हो जाने पर बुद्धि में स्वयं सहज स्थिरता आ जाती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६६।।

हे अर्जुन ! सर्वभूत समुदाय मोह रूपी रात्रि में सोते हैं, विश्राम लेते हैं, अर्थात् नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त और आनन्द स्वरूप का स्वप्न भी नहीं देखते, उस मोह रात्रि में न सोने वाला संयमी जोगी जागता है अर्थात् परम वितृष्ण होकर नित्य मुक्त शुद्ध, बुद्ध और आनन्द स्वरूप को ही ज्ञान की आँखें खोलकर देखता रहता है और जिस अनित्य, अशुद्ध, अज्ञान, बन्धनमय दुःखस्वरूप क्षण भंगुर भौतिक विलास में सब भूत प्राणी जागते हैं अर्थात् जागरुक होकर उसके लिये प्रयत्नशील बने रहते हैं उसमें तत्वदर्शी मननशील महात्मा सोते रहते हैं वह उनकी रात्रि है, अर्थात् संसारी सुखों की ओर से आँख बन्द किये रहते हैं। बन्धु ! उलूक दिन में (सूर्य प्रकाश में) सोता है और रात्रि में (अन्धकार में) जागता है किन्तु हंसादि पक्षी रात्रि को सोते हैं और दिन को जागते हैं, इसी प्रकार संसारी ज्ञान की आँखें बन्द कर अज्ञान की आँखें खोलकर जागते रहते हैं अर्थात् अज्ञान के अन्धकार में आनन्द मानते हैं और योगी महात्मा अज्ञान की ओर से नेत्र बन्द करके ज्ञानालोक में ज्ञान की दृष्टि खोलकर जागते रहते हैं।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।७०।।

सखे ! जैसे समुद्र सब ओर से परिपूर्ण एवं अचल प्रतिष्ठा वाला होने के कारण अनेकानेक बड़ी बड़ी नदियों के अत्यन्त वेगशाली जल के बहाव से चलायमान नहीं होता अपितु सब नदियाँ उसी में समाकर अपना अस्तित्व खो देती हैं, उसी प्रकार स्थित प्रज्ञ पुरुष के मन में कोई विकार उत्पन्न किये बिना समस्त भोग समा जाते हैं अर्थात् वह भोगों को आसक्ति रहित अपने को अभोक्ता समझकर भोगता हुआ भी अभोक्ता बना रहता है और उसके फलस्वरूप परम शान्ति को प्राप्त होता है किन्तु भोगों में आसक्ति रखने वाले अयोगी अशान्त ही बने रहते हैं क्योंकि उन्हें भोग्य रहते न भोग सकने की स्थिति तथा भोग की अप्राप्ति दशा और भोगों का विनाशकाल बड़े कष्ट का अनुभव कराता है, कहीं पाप के परिणामस्वरूप दुखों के भोगने का समय आ गया तो फिर कितने शोक और अशान्ति के साथ कालक्षेप करना पड़ता है, यह कहने की बात नहीं, कहकर पार भी कौन पा सकता है ? मृत्यु लोक व नरक लोक के भुक्तभोगी स्वयं प्रमाण हैं, संसारी मनुष्य प्रमाणभूत सबके दृष्टि पथ में नित्य आ रहे हैं। अतएव हे अर्जुन ! तुम्हें भी समत्व बुद्धि योग का आश्रय लेना चाहिये जिससे क्षत्रियोचित युद्ध कर्म करके भी तुम उसके फल से अलिप्त बने रहो।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।७१।।

बन्धु ! जो मनुष्य वासनाओं का अशेषतया सर्वभावेन त्यागकर ममता रूपी मृत्यु से रहित हो जाता है तथा अहंकार विहीन होकर निस्पृहः (आसक्ति रहित) व्यवहार करता है, वह परम शान्ति को प्राप्त होता है। भाई ! तुमने कठपुतली देखी होगी। देखो वह सूत्रधार के इशारे पर नाचती है, खड़ी होती है, गिर पड़ती है, बैठ जाती है, सो जाती है और अपने हाथों के

मुक्के भी खाती है—किन्तु कामना का त्याग, ममता का त्याग तथा ममकार और अहंकार का त्याग करके निःप्रयोजन बर्ताव करने पर उसके मुख की रौनक सदा एक सी बनी रहती है अर्थात् अशान्ति का आलिंगन नहीं करती, तद्नुसार ईश्वर की प्रेरणा से बर्तने वाले पुरुष भी सदा शांति के साथ बने रहते हैं।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।७२।।

हे सखे, यह स्थिति ब्रह्म प्राप्त पुरुष की है, इसको प्राप्त कर पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता क्योंकि कामना विहीन एवं अहंकार ममकार से रहित होकर वह अपनी आत्मा ही में विचरता है और अभ्यास के कारण अन्तकाल में भी इसी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानंद, अमृतानंद, शान्तानंद, केवलानंद प्रेमानंद, रसानंद आदि नामों से अभिहित होने वाले परमानंद को प्राप्त होता है। बन्धु ! मनुष्य अपना निर्माण अपनी वासना के अनुसार स्वयं कर लेता है, अन्त समय में जिसका चित्त जिस स्थिति में होता है वह उसी स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। भृंग कीट न्याय का परिज्ञान तो तुम रखते ही हो, देखो भृंग में चित्त लगाकर तदाकार हो जाने से ही कीट, भृंग का स्वरूप धारण कर लेता है। यही स्थिति परमार्थ विषय की भी मनीषियों ने बताई है। यह ब्राह्मी स्थिति स्वरूपानुरूप शाश्वत सुख प्रदान करने वाली अमृत स्वरूपा है, अतएव तुम्हें इसे सहर्ष अपनाने की चेष्टा में लग जाना चाहिए।

तात्पर्यार्थः—

साधक देह को क्षणभंगुरमृत स्वरूप एवं आत्मा से सर्वथा भिन्न जन्म–मरण–धर्मा तथा चर्मसार जड़ स्वरूप समझकर देह से आत्म बुद्धि और देह सम्बन्धित वस्तु से ममत्व बुद्धि हटा लें साथ ही मरने के बाद दिव्य देह मिलने की भी कामना न करे। आत्मा सर्वथा शरीर से विलक्षण

अविनाशी अर्थात् नित्य मुक्त, शुद्ध, बुद्ध और आनन्द स्वरूप, अपरिणामी और एक रस रहने वाला परमात्मा का सहज शेष, अंश, भोग्य और रक्ष्य है। इस प्रकार देही–देह विभाग का ज्ञान कर पुरुष को भगवत्लीला का पात्र बनकर– अहंता– ममता, आसक्ति, फलाशा और कर्तापन के अभिमान को छोड़कर वर्णाश्रमादि धर्म पालन रूप स्वधर्म के अनुष्ठान में लगे रहना चाहिए क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना बहुत श्रेष्ठ है। इसी प्रकार ज्ञानी सुख–दुःखादि द्वन्द्वों में समबुद्धि रखकर आत्म–स्थित हुआ जीव–स्वभावानुसार जैसा भी बर्तता है वह उसमें लिप्त नहीं हो सकता क्योंकि वह कामनाहीन होकर अपने लिये कुछ भी नहीं करता, करने और न करने से उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। यह स्थिति ब्रह्मप्राप्ति–कामी जिज्ञासुओं को अपनाना अपेक्षित है। इस स्थिति के अपनाने से साधक अन्त में अमृत होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है। भगवान आनन्द कन्द श्रीकृष्णजी महाराज का संक्षेप में दूसरे अध्याय का यही सारभूत संदेश है, इसे शिरसा अपनाने से ही हम परमधाम के आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा सकामी संसारी बनकर संसार चक्र के विषय बने रहकर जन्म–जरा–मरण, आधिव्याधि और यम–यातना के पात्र बनेंगे तथा दुःख पिण्ड बनकर कराहते–चिल्लाते रहेंगे, अरण्य रोदन के समान कोई सुनने वाला न होगा।

तृतीय अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।१।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

भगवान श्रीकृष्ण महाराज जी की उपर्युक्त वार्ता श्रवण कर अर्जुन ने कहा, हे जनार्दन ! आपके कथन से मुझे यह जानकारी मिली कि आप कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, अगर यह बात सर्वथा सत्य है तो परमार्थ प्राप्ति के लिये मुझे संग्राम करने रूप घोर कर्म में क्यों लगा रहे हैं ? महाराज ! जीव का अमृतानन्द रूप मोक्ष प्राप्त करना लक्ष्य होना चाहिए यह बात तो ठीक है किन्तु उसकी प्राप्ति यदि ज्ञान से हो सकती है तो दोषपूर्ण कर्म का अनुष्ठान न करना ही मुझे अच्छा मालूम होता है। यदि मधु देने से स्वास्थ्य लाभ हो सकता है तो मदिरा का पेय पिलाकर किसी को स्वस्थ करने का प्रयत्न उचित नहीं जान पड़ता। भगवन् ! क्या आप कर्म और ज्ञान दोनों की प्रशंसा करके अपने मिश्रित वाक्यों से धर्म के विषय में मोह उत्पन्न करना चाहते हैं, आप यदि जीव की बुद्धि में मोह अन्धकार का प्रवेश कराना चाहेंगे तो दूसरा कोई, ऐसा सामर्थ्यवान् नहीं है जो ज्ञानालोक का प्रवेश करा सके, इसलिये हे प्रभो ! आप निश्चय पूर्वक एक मार्ग की वार्ता बतलाने की कृपा करें, जिससे मैं श्रेय स्वरूप परम पद की प्राप्ति कर सकूँ। भला आप ही बतायें दो नावों में पैर रखकर कोई समुद्र पार जाने का प्रयास करे तो क्या उसके समक्ष सफलता अपना मुख दिखा सकती है ? कदापि नहीं वह तो डूबकर समुद्र के जीवों का अन्न बन जायेगा।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम् ।।३।।

अर्जुन की प्रार्थना पर ध्यान देते हुये आनन्द–कन्द श्रीकृष्ण भगवान बोले, हे पुण्य स्वरूप अर्जुन! इस लोक में (साधन पथ में) दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहिले कही जा चुकी है, ज्ञानियों की ज्ञान योग से और योगियों की निष्काम कर्मयोग से। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्, रज, और तम तीनों गुण ही गुणों में बर्तते हैं अर्थात् गुण प्रेरित इन्द्रियाँ अपने अर्थों में विचरती हैं, गुणों को छोड़कर अन्य कोई कर्ता नहीं है इसलिये ज्ञानी, बुद्धि, मन इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाली क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से अछूता रहता है और सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकी भाव होकर स्थित रहता है। यही ज्ञान योग है जिस पर ज्ञान मार्गी चला करते हैं और फल एवं आसक्ति को त्यागकर भगवदर्थ भगवदाज्ञानुसार समत्व बुद्धियोग से कर्म करना निष्काम कर्मयोग कहलाता है, जिस पर योगी आरूढ़ हुआ करते हैं। बन्धु! मैंने तुम्हारी बुद्धि में मोह उत्पन्न करने के लिये दो वार्तायें नहीं कही हैं अपितु एक मस्तिष्क सबका न होने के कारण भिन्न–भिन्न रुचि के पुरुष होते हैं अस्तु कल्याण कामियों के लिये अधिकार भेद से दो बातें कहीं हैं। दूसरा भाव यह भी था कि दो परमार्थ वार्तायें कहकर एक की श्रेष्ठता तुम्हारे मन में बैठा दूँ और उसी का अवलम्बन लेने की प्रेरणा देकर तुम्हें परमार्थ की पूर्ण प्राप्ति करा दूँ।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४।।

हे बन्धु! उत्तम बात तो यह है कि किसी भी साधन के पथ पर चलने के लिये स्वरूपतः कर्मों के त्याग की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि मात्र

कर्म न करने से मनुष्य न तो निष्कर्मता को प्राप्त होता है और न कर्मों के त्यागने मात्र से परमात्म साक्षात्कार रूप सिद्धि ही उसके हाथ लगती। जैसे अन्न पाने की इच्छा किसी के मन में है किन्तु वह न स्वयं बनाकर अपने हाथ पाना रूप कर्म करना चाहता है और न किसी के द्वारा मुख में दिये हुये अन्न को चबाना और निगलना चाहता तो इससे निष्कर्मता न प्राप्त होगी क्योंकि भूख से व्याकुल इन्द्रियों सहित मन तड़प–तड़कर अन्न पाने की वासना से युक्त है अर्थात् इन्द्रिय, मन भीतर से कर्म कर रहे हैं, इस लिये इस आसक्ति से युक्त मन मृत्यु के पश्चात् जीव को अपनी वासना के अनुसार करण कलेवर देगा ही जिससे अकर्मता 'सिद्ध न होगी। अकर्मता तो वह कहलाती है जो कर्म करते हुये भी फल के बन्धन से जीव को अलग रखे। इसी प्रकार ऊपर से अन्न पाना रूप कर्म के त्यागी को सन्तुष्टि, पुष्टि रूप सिद्धि भी न प्राप्त हो सकेगी ठीक वैसे ही परमार्थ की कामना वालों को भी स्वरूपतः कर्म न करने से न अकर्मता प्राप्त होती है और न परमात्म प्राप्ति रूप सिद्धि ही।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

बन्धु ! एक बात और भी है, वह यह कि सर्वथा कर्मों के त्याग का कोटि कोटि प्रयत्न करने पर भी स्वरूपतः त्याग हो नहीं सकता क्योंकि सभी पुरुष प्रकृति के उत्पन्न गुणों के द्वारा परवश हुये कर्म करते हैं, इसलिये क्षणमात्र कोई बिना कर्म किये नहीं रह सकता। जैसे वायु का स्पंदनशील होना स्वभावतः सिद्ध है उसे कोई बिना चलते स्थाई नहीं देख सकता, और न वह बिना गति के रह सकता, वैसे ही प्रकृति–प्रभूत सभी प्राणी कुछ न कुछ कर्म करते ही रहेंगे, इसलिये कर्म को स्वरूप से त्यागने का दुराग्रह भी बुद्धिमान पुरुष को नहीं करना चाहिए।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

जो विमूढ़ात्मा पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ पूर्वक कर्म करने से तो रोकता है और मन से इन्द्रियों के विषयों को भोगने की इच्छा या स्मरण करता है, वह मिथ्याचारी है उसे लोग दम्भी ढोंगी जगत में कहा करते हैं। अजगर एक जगह बैठा रहता है, आहार के उपाय रूप कर्म को त्यागे रहता है किन्तु उसका मन चाहता है कि कोई जीव मेरे पास आ जाते तो उससे अपना उदर भर लेता। भला बन्धु ! सोचो तो सही क्या कोई उसको कर्मत्यागी, सन्यासी आदि नामों से पुकारेगा या वह परम सिद्धि को प्राप्त होगा क्या ? लोक में आलसी पुरुष को अजगर कहते हैं इससे सिद्ध है कि जैसे अजगर को लोग अकर्मण्य मानते हैं, मिथ्याचारी के नाम से पुकारते हैं, वैसे ही इन्द्रियों को बलात् रोककर मन से विषय चिन्तन करने वाले पुरुष को मिथ्याचारी जानना चाहिए।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।७।।

हे अर्जुन ! जो मनुष्य मन से इन्द्रियों को अपने वश में रखता है अर्थात् उनको स्वतंत्रता पूर्वक अपने अर्थों में भ्रमण नहीं करने देता और अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों से शास्त्र–विहित कर्म करता है, वह कर्मयोगी श्रेष्ठ कहा जाता है। गंगादि नदियाँ अपने स्वार्थ का कुछ भी चिन्तन न करके जल प्रवहन रूप कर्म में प्रवृत्त रहती हैं इसलिये सुर, नर, नाग–गणों से पूजित शंकरजी के शिर का भूषण बनी हैं, इससे अधिक उनकी श्रेष्ठता, पवित्रता और क्या हो सकती है, इसी प्रकार अनासक्त कर्मयोगी भी सबको पवित्र करनेवाला सबका परमपूज्य बन जाता है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।८।।

इसलिये हे बन्धु ! शास्त्रोक्त (वेद विहित) स्वधर्म रूप कर्म को करने के लिये तुम सहर्ष कमर कस लो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना सर्वभावेन श्रेष्ठ है। अशेषतया कर्मों को तुम छोड़ भी नहीं सकते, क्योंकि कर्म का त्याग करने से तुम्हारे शरीर का निर्वाह भी संभव न होगा। भाई ! सोना, जागना, चलना, फिरना, उठना, बैठना, भोजन करना, पानी पीना तथा पुरीषोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग करना, स्नान करना, शरीर खुजलाना, शरीर से मच्छर भगाना, धूप सेवन व वायु सेवन करना, औषधि सेवन करना, छींकना, खाँसना, देखना, सुनना, सूँघना, रस लेना, स्पर्श करना, बातें करना इत्यादि शारीरिक व्यवहार में बरते बिना क्या शरीर टिक सकता है या इनके बिना वह सुरक्षित रह सकता है ? नहीं, अतएव स्वधर्म पालन रूप कर्म करने से कदापि मुख न मोड़ना चाहिए, यही बुद्धिमत्ता है। विचार करो, अस्त्र–शस्त्र, वाद्य आदि वस्तुयें काम में न लाने से जैसे जंग आदि लग जाने के कारण रखे रखे नष्टप्राय हो जाते हैं उसी प्रकार शरीर द्वारा कर्म न होने से क्या वह सुरक्षित रह सकता है ? यदि नहीं तो उससे कर्म कराना औचित्य का आवश्यकीय आदर है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।।९।।

सखे ! कर्म बन्धन से हम बँध जाएंगे, इस भय से भी तुम्हें कर्म का त्याग करना उचित नहीं है क्योंकि यज्ञ अर्थात् भगवदर्थ किये गये निष्काम कर्म, बन्धन में जीव को नहीं बाँधते । अरे भाई ! देहाभिमानी सकामी स्वार्थ परायण पुरुष से किये गये कर्म ही कर्ता को बाँधने में समर्थ होते हैं, तुम्हें तो समत्व बुद्धि योग से स्वधर्म पालन रूप कर्म करना है, अतएव तुम कर्म बन्धन से नहीं बँधोगे, इसलिये निर्भय होकर आसक्ति रहित भगवदर्थ (ईश्वर की प्रसन्नता के लिये) स्वधर्मानुसार कर्मों का आचरण करो। अहा हा ! ईश्वर प्रीत्यर्थ कर्म की महान महिमा है इतिहास साक्षी है, वृत्रासुर

जैसे कितने पुरुष तदर्थ किंचित कर्म (कैंकर्य) करके परमात्मा के परमधाम की प्राप्ति किये हैं

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ।।१०।।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।११।।

बन्धु ! एक बात और भी है, वह यह कि कर्म का त्याग करने से तुम्हें पाप भी लगेगा और उसके परिणामभूत यम–यातना का पात्र बनना पड़ेगा, क्योंकि प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजा की सृष्टि करके कहा कि हे प्रजा वृन्दो ! तुम लोगों की वृद्धि एवं सुख समृद्धि के लिये इस यज्ञ को भी हमने तुम्हारे साथ रचा है, इसलिये यज्ञरूपी भगवदर्थ कर्म कर करके सुखी रहो, यह यज्ञ तुम्हारी मनचाही इच्छाओं की पूर्ति सदा करता रहे। यज्ञ द्वारा तुम लोग देवताओं की सेवा पूजा तथा उन्नति करते रहो और देवता लोग तुम लोगों की सर्वभावेन उन्नति करते रहें, इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुये परम कल्याण की प्राप्ति करो। जैसा जलाशयों से सूर्य पानी खींचता है और पुनः उसी सूर्य द्वारा वर्षा से सभी जलाशय भर जाया करते हैं। अस्तु हे अर्जुन ! तुम्हें स्वधर्म पालन रूप समर यज्ञ का अनुष्ठान लेकर प्रजापति के वचनों का आदर करना चाहिए अन्यथा उनकी आज्ञा की अवहेलना से घोर पाप को प्राप्त होगे, जिससे अन्धकारमय तमसाछन्न लोकों में प्रवेश करोगे।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।१२।।

यज्ञ द्वारा भोग, बल, विजय और तेज की वृद्धि को प्राप्त हुये देवता लोग तुम्हें बिना याचना के प्रिय एवं सुखमय भोगों को प्रदान करेंगे, अतएव उनके द्वारा प्राप्त सामग्री से उनका पूजन कर (उनको अर्पण कर) के

ही प्रसाद स्वरूप इष्ट भोगों का सेवन करना चाहिए, अन्यथा बिना देव समर्पण के जो पुरुष भोगों को भोगता है, वह निश्चय ही चोर है। बन्धु ! जैसे पति, सम्पत्ति लाकर पत्नी को समर्पण कर दे, उसके सुख के लिये परन्तु वह पत्नी यदि पति को बिना भोजन दिये स्वयं खा लिया करे तो वह निश्चय चोर ही है और यमपुरी का विषय बनकर घोर यातना भोगने वाली होगी, उसी प्रकार बिना देव–समर्पण के मनुष्यों के भोग भी कष्टप्रद ही समझो।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तोमुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।१३।।

जो साधु पुरुष यज्ञ से शेष बचे हुये अर्थात् ईश्वरार्पण करके प्रभु प्रसाद स्वरूप अन्न को खाते हैं, वे निर्मल हो जाते हैं, उनमें पापों के समुद्र का सीकरांश भी नहीं रहता अर्थात् पापों से अशेषतया वे मुक्त हो जाते हैं किन्तु पापकर्मा पुरुष अपने शरीर पोषण के लिये ही अन्न पकाया करते हैं अतएव वे पाप ही को खा खाकर पाप की साक्षात मूर्ति बन जाते हैं। जैसे जहर के खाने का थोड़ा–थोड़ा अभ्यास करते–करते खाने वाला पुरुष इतना विषैला बन जाता है कि अगर वह किसी के साथ शयन करे या किसी को काट दे तो लोग मर जाते हैं, कहने का भाव यह है कि वह विष की मूर्ति बन जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रभु–प्रसाद–स्वरूप अमृतान्न न पाकर बिना ईश्वरार्पित अन्न पाते पाते लोग मृत स्वरूप पापात्मा बन जाते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ।।१४।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।१५।।

हे सखे ! सम्पूर्ण प्राणी समुदाय अन्न से उत्पन्न होते हैं क्योंकि अन्न से ही वीर्य बनता है और वीर्य से प्रजा उत्पन्न होती है इसलिये प्रजा उत्पन्न होने का प्रधान कारण अन्न है और अन्न की उत्पत्ति मेघों द्वारा की गई

वृष्टि से होती है और वह मेघ यज्ञ से उत्पन्न होता है अर्थात् यज्ञ धूम्र ही पर्जन्य बनते हैं और वह यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है। इसलिये कर्म ही उपर्युक्त विधानों का मूल है और वह कर्म वेदों से उत्पन्न हुआ है अर्थात् वेदों में ही कर्मों के वितानका विस्तृत वर्णन है और वेद अविनाशी परब्रह्म परमात्मा से प्रकट हुये हैं, इससे सर्वव्यापक अक्षरातीत ब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है क्योंकि कारण अपने कार्य में उसी प्रकार समाया रहता है जैसे मिट्टी अपने कार्यरूप घड़े में, सोना आभूषण में और रुई वस्त्र में प्रतिष्ठित रहती है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।१६।।

हे पार्थ ! जो मनुष्य इस लोक में इस प्रकार की व्यवस्था से प्रवर्तित सृष्टि चक्र के नियमों के अनुसार व्यवहार करता है शास्त्र विधि का परित्याग करता है तथा करने योग्य कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता, वह इन्द्रियों के विषय भोग में रमा रहने वाला अर्थात् पाप करते–करते कालक्षेप करने वाला पाप–आयु पुरुष व्यर्थ ही संसार में जीवन व्यतीत करता है। बन्धु ! इन्द्रिय भोग तो पशुओं, पक्षियों का जीवन है, उनमें न बुद्धि का विकास है और न आत्मबोध के लिये उन्हें शास्त्र ज्ञान है किन्तु उनके चर्म माँस हड्डी आदि दूसरे के स्वार्थ की पूर्ति किया करते हैं परन्तु मनुष्य बुद्धि बल से संपन्न शास्त्र ज्ञान को सुलभ कर लेने वाला मोक्ष का अधिकारी होते हुये यदि विषयासक्त है, तो वह मात्र नरक का अधिकारी है उसके शरीर के अवयव भी किसी के काम नहीं आते, अतएव कृमि, विट्, भस्म संज्ञक शरीर वाले विषय लोलुप मनुष्य का जीवन व्यर्थ है, उससे न अपना बनता न दूसरे का, वह अपनी माता के जवानी रूप वृक्ष को काटने के लिये कुठार है, माता के मल के साथ निकलने वाले कीड़े के समान मूत्र मार्ग से निकलने वाला कीड़ा है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।१७।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।१८।।

सखे ! जीवन तो उसका सफल है जिसे जन्म देकर माता कृतार्थ हो जाती है। अहो ! वह पुरुष आत्मा परमात्मा की प्रीति से सम्पन्न होता है उसी में तृप्त और उसी में संतुष्ट रहता है, उसे आनन्द के लिये प्रकृति सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रहती अतएव उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता क्योंकि साधन तब तक किये जाते हैं जब तक साध्य की प्राप्ति न हो, औषधि सेवन तब तक किया जाता है जब तक मनुष्य स्वस्थ न हो। परमात्म साक्षात्कार करके उसी में प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि हो जाने वाले पुरुष को संसार में करने और न करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता। उसका सम्पूर्ण संसार के प्राणियों से न कोई सम्बन्ध और न कोई स्वार्थ होता, तो भी न करने से कुछ करना अच्छा इसलिये है कि इससे लोक का हित होता है, अतएव आत्मरति परायण पुरुष भी आसक्ति रहित बिना कामना के कर्म करते देखे जाते हैं। जैसे वृक्षों को अपने अवयव एवं पुष्पों और फलों से कोई स्वार्थ नहीं है तो भी लोक–हितार्थ वर्षा जाड़ा, गर्मी सहकर खड़े रहते हैं तथा फूलते और फलते हैं, उन्हें कोई काटे मारे या सींचे और सुरक्षा करे, दोनों की समान सेवा अपने अंगभूत पुष्प फलादि से किया करते हैं।

तस्मादसक्त सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।१६।।

बन्धु ! इसलिये तुम भी आसक्ति रहित होकर निरन्तर कर्त्तव्य कर्मों का भली–भाँति अनुष्ठान करते रहो क्योंकि अनासक्त पुरुष भगवदर्थ कर्म करता हुआ परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को प्राप्त होता है। जैसे सूर्य से

सम्बन्धित किरणें सूर्य ही में समा जाती है उसी प्रकार प्रकृति से अनासक्त और परमात्मा में मात्र रमने वाला आत्मा—राम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त करता है अतएव अब तुम भी सूर्य की रश्मियों की तरह जगत में अनासक्त कर्म करने का प्रकाश बिखेरते हुये परमात्मा से सतत सम्बन्ध बनाये रहो तो अन्त में परमात्मा को ही प्राप्त करोगे।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।२०।।

सखे ! अगर यह जानना चाहते हो कि ऐसे पुरुष जगत में होना संभव है क्या ? जो कर्म करते हुये परमात्म प्राप्ति कर लिये हों, तो सुनो एक नहीं अनेक हुये हैं उनकी गणना करना भी न बन सकेगा क्योंकि असंख्य की संख्या कभी नहीं होती, प्रमाण के लिये जनकादि महाराजा पर्याप्त हैं, वे ज्ञानी जन अनासक्त भाव से कर्मों का अनुष्ठान करके ही परम सिद्धि को प्राप्त हुये हैं। इसलिये परमात्म प्राप्ति करने के लिये एवं लोक—संग्रहार्थ निष्काम कर्म करने की योग्यता जो तुममें विद्यमान है, उसका उपयोग करने के लिए उद्यत हो जाओ। श्रीमन्त की योग्यता होते हुये श्री विहीन रहना अच्छा नहीं पुरुष होकर परम पुरुषार्थ की प्राप्ति न करना नपुंसक का कार्य है, सिंह होकर अजा (बकरी) को देखकर काँप जाना कायरों का काम है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

बन्धु ! लोक संग्रह के लिये श्रेष्ठ पुरुषों को शास्त्र प्रमाण तथा साधुजनों के कथनानुसार आचरण करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि अन्य लोग श्रेष्ठ पुरुष के अनुसार ही आचरण में उतरते हैं, उत्तम स्वभाव वाले पुरुष जो कुछ अपने वचन व कर्म के द्वारा प्रमाणित कर देते हैं, तदनुसार इतर जन भी व्यवहार करते हैं। यदि तुमने न करने योग्य कार्य तो किये और

करने योग्य कर्म न किये तो समझ लो कि लोक तुम्हें श्रेष्ठ समझकर तुम्हारे जैसा वर्तने लगेगा और अपने आप अपने कब्र के लिये खाई खोदेगा। अन्त में घोर पतन उसका हो जायेगा, जिसका पाप तुम्हें लगेगा क्योंकि तुम्हारे आचरण द्वारा लोग भ्रष्ट किये गये हैं। अर्ध रात्रि अपने घर में अग्नि लगा देने से पड़ोसियों व पूरे गाँव के घर जल जाने के कारण गुप्तचरों द्वारा असलियत का पता लग जाने पर जैसे अग्नि लगाने वाला ही सच्चा अपराधी मानकर राजदंड का अधिकारी होता है वैसे ही उपर्युक्त अशास्त्रीय अर्थात् निषेध किये हुये कर्म के कर्ता कारयिता को यम दंड का पात्र बनना पड़ता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।२२।।

सखे ! तुम मुझे बहुत प्रिय हो इससे रहस्यमयी वार्ता को भी तुमसे बताने में विराम नहीं ले रहा हूँ। सुनो ! मैं आत्म प्रशंसा नहीं कर रहा किन्तु तुम्हें प्रबुद्ध करने के लिये अपनी स्थिति का कथन स्वयं कर रहा हूँ वह यह कि यद्यपि मुझको त्रिभुवन में कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है, मैं स्वयं अपने आप में ही पूर्ण हूँ और प्राप्त होने योग्य किंचित् वस्तु भी मुझे अप्राप्त नहीं है क्योंकि मैं सर्व स्वामी सर्वभोक्ता हूँ, तो भी मैं कर्म में ही वर्तता हूँ अर्थात् सदा शास्त्र प्रमाणानुसार कर्मों का आचरण करता हूँ जिससे लोक भी शोभन सदाचरण में लगे। जैसे राजा के अनुसार ही प्रजा होती है, धर्मी के अनुसार ही धर्म में परिणाम होता है और कारण के अनुगुण्य कार्य होता है, वैसे ही श्रेष्ठ जनों के आचरण के अनुसार अन्य जनों के आचरण होते हैं।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।२३।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।२४।।
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्वि द्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम्।।२५।।

मित्र ! मैं सत्य कहता हूँ कि यदि मैं असावधानी के साथ वर्तने लगूँ तो सारा संसार मेरे बर्ताव के अनुसार ही आचरण करने लग जाय अर्थात् भ्रष्टाचार से लोक परिपूर्ण हो जाय। इतना ही नहीं हमारे कर्म न करने से लोक कुपथगामी होकर वर्णसंकर बन जायेगा। जिसका कारण मैं ही निश्चय बनूँगा, सारी प्रजा को कुमार्ग से चलाकर नरक के गर्त में गिराने वाला अर्थात् सबका हनन करने वाला स्वयं सिद्ध किया जाऊँगा अतएव मैं अनासक्त होकर उदासीन भाव से कर्म करता हूँ, तो न कर्म बन्धन से बँधता और न लोक हन्ता ही बनता, यही अनुकरण आपको भी करना चाहिए। बन्धु ! यह संसार भेड़पथ का अनुयायी है जैसे आगे की प्रमुख भेड़ जिधर जाती है उधर ही सबकी सब भेड़ें अनुगमन करती हैं यह नहीं सोचतीं कि गर्त में गिर जायेंगी वैसे ही लोक श्रेष्ठ पुरुष का आचरण देखकर तदनुसार बर्तने लगता है और उसी को प्रमाणित समझता है इसलिये श्रेष्ठ पुरुष को शास्त्र प्रमाणानुसार आचरण लोकसंग्रह के लिये सजग होकर वैसे ही करना चाहिये जैसे कर्म में आसक्त, अज्ञानी लोग कर्म करते हैं, अन्तर इतना ही रहेगा कि विद्वान अनासक्त होकर लोक कल्याण के लिये निष्काम कर्म योग का अनुष्ठान करता है। जैसे कोई सत्‌चिकित्सक चीरफाड़ करता है लोगों की रोग निवृत्ति के लिये स्वयं का प्रयोजन कुछ नहीं रहता इसलिये प्रशंसा का पात्र बनकर उत्तमगति को प्राप्त करता है और वही चीर–फाड़ ठग, चोर, डाकू स्वार्थ के लिये करते हैं तो वे कुयश के पात्र बनकर नरक यातना के अधिकारी होते हैं अतएव हमारे कथनानुसार तुम भी समत्व बुद्धि से सम्पन्न होकर निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करो।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।२६।।

बन्धु ! ज्ञानी पुरुष को बड़ी सावधानी से बर्तना उसके स्वरूपानुरूप होता है, उसको चाहिए कि कर्मों में आसक्ति रखने वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम संशय आदि कुतर्क भरकर कर्मों में अश्रद्धा न उत्पन्न करे अपितु स्वयं परमात्मा के स्वरूप में स्थित होकर सब कर्मों का अनुष्ठान अच्छी तरह करते हुये उन अज्ञानियों से भी वैसे ही आचरण कराने में सजग रहे। यदि ज्ञानी पुरुष ऐसा न करके अज्ञानियों के बीच कर्म की निन्दा करेगा तो जो बेचारे ज्ञान विहीन कर्म का अनुष्ठान करके कुछ परमार्थ की ओर अग्रसर हो रहे थे, वे महापुरुष से कर्म की हेयता सुनकर उसका भी परित्याग कर देंगे, तो पतन के अतिरिक्त उनको अन्य गति का दर्शन कहाँ ? जैसे आकाश मार्ग से गमन करने वाला कोई सिद्ध भरी नदी से पार जाने के इच्छुक को तैरते देखकर कहे कि अरे भाई ! यह तैरना तुम्हारा ठीक नहीं तुम तो आत्मा हो आत्मबल का प्रयोग करो, योग का आश्रय लो संयम के द्वारा पानी के ऊपर ऊपर पैरों द्वारा चल सकते हो। सखे ! विचारो तो भला उस तैराक की दशा सिद्ध के कथनानुसार चलने में क्या हुई होगी। वह नदी के बीच हाथ पैर बन्द करते ही आत्म–चिन्तन का अनभ्यासी होने के कारण तुरन्त योग की सिद्धियों में न अधिकार पा सकता और न तैर सकता तो नदी में डूबकर बह जाने के अतिरिक्त अन्य कोई गति उसके हाथ लगेगी क्या ? नहीं ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।२७।।

हे अर्जुन ! यह बात सर्वथा सत्य है, कि संपूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा ही किये जाते हैं किन्तु अहंकारी विमूढ़ बुद्धि वाला पुरुष अपने को ही कर्ता मान लेता है अतएव इसी कर्तृत्वाभिमान के कारण वह कष्टातिकष्ट

का भोक्ता उसी प्रकार बनता है जैसे किसी कारणवश न्यायालय में निरपराधी अहंकार के आधीन होकर अपने को अपराधी स्वीकार करके कैदखाने की यातनाओं को भोगता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्म विभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।२८।।

किन्तु हे महाबाहो! गुण विभाग और कर्मविभाग अर्थात् गुण के कार्य स्वरूप पंचभूतादि चौबीस तत्वों तथा उनकी परस्पर की चेष्टाओं को (कर्मविभाग को) तत्त्वतः जानने वाले ज्ञानी मनुष्य का यह दृढ़ ज्ञान होता है कि सम्पूर्ण गुण गुणों में वर्तते हैं, अर्थात सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने अर्थों में विचरण करती हैं इसलिये वह ऐसा जानकर न आसक्त होता और न अपने को कर्ता भोक्ता समझता। जैसे आकाश में वायु का वेग बादलों का दौड़ान, जल ओले की वृष्टि, धूल के कणसमूह धूम्र और अन्धकार आदि की स्थिति, दृष्टि का विषय तो बनती है किन्तु आकाश यह नहीं समझता कि मैं इनको उत्पन्न करने वाला और अपने में स्थान देने वाला हूँ, तथा यह भी नहीं समझता कि मैं इनसे सुशोभित हो रहा हूँ मेरे ये भोग्य हैं, इसलिये आकाश सर्वदा अलिप्त और एक रस रहकर स्वस्थ बना रहता है।

प्रकृतेर्गुण संमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तान कृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।२९।।

प्रकृति के गुणों से सम्मोह को प्राप्त पुरुष ही गुण और कर्मों में आसक्त होकर आचरण करते हैं, उन्हें आत्मा के दर्शन दुर्लभ होने से ज्ञान की ज्योति जगाने में सहायता नहीं कर पाती अतएव उन पूर्ण अज्ञान की भूमिका में स्थित अज्ञानियों को सर्वविद ज्ञानी पुरुष कर्म से हटाने का प्रयत्न कभी न करें क्योंकि कर्म की पटरी से हटा देने से उनके जीवन की गाड़ी खतरे के गर्त में गिर जायेगी उनके हाथ न ज्ञानानुष्ठान लगेगा न कर्मानुष्ठान।

अतः पशुवत चर्या से उन्हें अन्धकारमय असूर्या नाम के लोकों की ही प्राप्ति होगी जो दुख के साक्षात् स्वरूप हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३०।।

इसलिये हे अर्जुन ! तुम ध्याननिष्ठ चित्त वाले बनकर अर्थात् कर्मों से आसक्ति और फल की कामना के त्याग से असंग बनकर संपूर्ण कर्मों को स्वरूपतः मुझको समर्पणकर दो अर्थात् मुझको ही कर्ता कारयिता और कर्म का भोक्ता समझ कर्मफल समर्पण कर दो और उस कर्मफल की किंचित आशा कभी न करो, इस प्रकार ममत्व बुद्धि का परित्याग कर संताप से मुक्त हो जाओ और युद्ध रूपी कर्म का अनुष्ठान निमित्त मात्र बनकर करते रहो। बन्धु ! ध्याननिष्ठ चकोर ध्यान पूर्वक चन्द्र का दर्शन रूप कर्म करता है और अंगार खाने से भी संतापित जैसे नहीं होता है वैसे ही तुमको भी उसका अनुवर्तन करना चाहिये।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।३१।।
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञान विमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।।३२।।

सखे ! मैं सत्य कहता हूँ, कोई भी पुरुष चाहे जिस् वर्ण व आश्रम का हो यदि तर्क वितर्क एवं दोष दृष्टि का दूर से ही परित्याग कर मेरे मत के अनुसार श्रद्धा संयुक्त अनुष्ठान करता है, वह सम्पूर्ण कर्मों के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और जो दोष दृष्टि वाले स्वेच्छाचारी उच्श्रृंखल एवं तमसाछन्न विमूढ़ात्मा है, वे मेरे मत का समर्थन नहीं करते अर्थात् श्रुति स्मृति पुराणादि के आदेशानुसार व्यवहार नहीं करते, अतएव उनको सब प्रकार के ज्ञान में संशययुक्त तथा मोहित समझना चाहिये, आत्म कल्याण तो उनका सर्वभावेन भ्रष्ट हो चुका है। बन्धु ! नाव चलाने की विद्या में

निपुण नाविक के कथनानुसार नाव को न चलाकर कोई स्वेच्छाचारी की नाव आवर्त (भंवर) में फँसकर डूबने से बच सकती है क्या ? यदि नहीं तो श्रुति सम्मत मेरे मत का विरोधी भी संसार सागर से उबरने का कभी स्वप्न भी नहीं देख सकता।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।३३।।

बन्धु! ज्ञानी लोग भी बिना कर्म के नहीं रह सकते अपनी–अपनी प्रकृति (स्वभाव) के सदृश उन्हें भी प्रकृति के आधीन होकर चेष्टा करनी ही पड़ती है इसलिये जब सम्पूर्ण प्राणी समुदाय बरबस प्रकृति (कर्म) को प्राप्त होता है तब कर्म न करने का किसी का दुराग्रह क्या करेगा अर्थात् कर्म करना ही पड़ेगा। अतएव स्वधर्मानुसार प्राप्त कर्म का परित्याग हठ पूर्वक करना तुम्हें उचित नहीं है। भला विचार करो अपने स्वभावानुसार चलती हुई वायु को रोकने का दुराग्रह किसी का जब सफल नहीं हो सकता तब रोकने वाले हठी को मूर्खों का सरदार कहना क्या उचित न होगा ? अरे भाई! ऐसे हठी पवन के वेग के थपेड़े खा–खाकर बेहोश हो जाते हैं और कहीं गर्त में वायु के झकोरों द्वारा गिरा दिये गये तो जिन्दगी से भी हाथ धोना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृति प्रभूत कर्म न करने का हठ दुराग्रही को आपत्ति का आकार बना देता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वैषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।३४।।

हे अर्जुन ! पुरुष को सदा आत्म दर्शन में लगे रहकर इन्द्रियों की ओर से सजग रहना चाहिए क्योंकि इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषय भोगों में अनुकूलता और प्रतिकूलता प्रतीत होने पर राग द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं जो मोक्ष मार्ग में अवरोध करने वाले महान शत्रु हैं, इसलिये कल्याणकारी पुरुष राग–द्वेष के वश में न हो अर्थात् अनुकूल विषयों के प्राप्त होने पर

न तो उनमें आसक्त हो और न उनके विनाश से दुखी हो। इसी प्रकार प्रतिकूल विषयों के प्राप्त होने पर दुखी न हो और चले जाने पर हर्ष का अनुभव न करे। सखे! जैसे–वायु सुगन्धित और दुर्गन्धित पदार्थों का स्पर्श करके राग–द्वेष से सदा मुक्त रहता है उसी प्रकार सुख दुख की प्राप्ति में मुमुक्ष पुरुष को सम बने रहना चाहिए। ऐसा स्वभाव बना लेने में कोई विशेष कठिनाई नहीं है, शम, दम, विचार और सुसंगति के अभ्यास से क्या नहीं हो सकता।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३५।।

सखे! साधक को चाहिये कि बिना राग द्वेष के स्वधर्मानुष्ठान में लगा रहे क्योंकि भली भाँति वेद विधि से पालन किये गये दूसरे के धर्म से गुण रहित होते हुये भी अपना धर्म अत्यन्त उत्तम है। अपने धर्म के पालन में मर जाना भी पड़े तो वह मरना कल्याण की वृद्धि करने वाला होगा किन्तु दूसरे का धर्म भय को प्रदान करनेवाला विरोधी है। भइया! यदि अपनी विवाहिता स्त्री बहुत सुन्दर एवं गुणवती न हो तो भी वह दूसरे की परम सुन्दरी तथा सर्वगुण सम्पन्ना स्त्री से बहुत उत्तम है, उस सहधर्मिणी के साथ रहकर लोक–परलोक की यात्रा निर्विघ्न पार की जा सकती है किन्तु दूसरे की सुन्दरी के साथ से लोक–परलोक दोनों भय को उत्पन्न करने वाले परम दुःखदायक बनेंगे, अतएव उपर्युक्त वार्ता पर ध्यान देते हुए तुम्हें स्वधर्मानुष्ठान रूप समर यज्ञ के यजमान बनने में हिचकिचाहट नहीं करनी चाहिए।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।३६।।

श्री अर्जुन जी, भगवान श्री कृष्ण जी महाराज की बातें श्रवण कर शंका की शैया में गिर गये, पुनः सचेष्ट होकर पूछने लगे कि हे भगवन् ! जब अपना धर्म ईश्वर और वेद से नियत किया हुआ है और आत्मा भी आनन्द का अर्जन करना चाहती है तब शोक संताप को संवर्धन करने वाले अधर्म में न चाहते हुये भी मनुष्य की प्रवृत्ति बलात्कार लगाये हुये के समान किसकी प्रेरणा से हो जाती है, जिससे पाप करते करते पाप का पिंड बन जाना पड़ता है। भगवन् ! जैसे स्वप्न के संसार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि स्वप्न में स्त्री भोग से वीर्यपात करने की प्रवृत्ति न होने पर भी बलात्कार अनर्थ की प्राप्ति अर्थ के अविद्यमान दशा में भी हो जाती है और क्षीणता का क्लेश भोगना पड़ता है ठीक इसी प्रकार जाग्रत अवस्था के जगत में न चाहते हुये भी अनर्थ का आक्रमण हो ही जाता है। अतएव इसका कारण समझाकर मुझे प्रबुद्धता प्रदान करने की कृपा हो।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्माविद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।३७।।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।३८।।

उपर्युक्त अर्जुन के प्रश्न को श्रवणकर भगवान श्रीकृष्णजी महाराज बोले बन्धु। रजोगुण से उत्पन्न होने वाला यह काम ही क्रोध का रूप धारण करता है, यह अग्नि के सदृश सदा भोगों से अतृप्त रहने के कारण महाशन नाम से जाना जाता है अतएव महापापी है अर्थात् पाप स्वरूप है इसलिये अपने प्रश्न के विषय में इस काम को ही कारण समझो यह अपना महाशत्रु है। जैसे अग्नि धुएँ से, दर्पण मल से, गर्भ जेर से ढका रहता है वैसे ही ज्ञान, काम के द्वारा ढका रहता है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य अनाचार में ही वर्तते हैं।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३६।।

सखे ! अग्नि में जैसे आहुतियाँ एवं ईंधन कितना ही डालते जाँय वह अतृप्त ही रहता है वैसे ही कितने ही विषय भोग की सामग्रियाँ कामी को प्राप्त हों परन्तु उसके लिये अपर्याप्त ही रहती हैं। कामी के उदर की पूर्ति कभी नहीं होती हमारे बार–बार यह वार्ता दोहराने का अभिप्राय यही है कि निश्चय ही यह काम ज्ञानियों का शत्रु है, इसी से ज्ञान ढँका रहता है, इसलिये अपने प्रश्न के विषय में काम को ही कारण समझो, न चाहते हुये भी जीव काम के द्वारा ही बलात्कार पाप में प्रवृत्त किये जाते हैं।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठान मुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।४०।।
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।४१।।

बन्धु ! इस ज्ञान शत्रु काम के वासस्थान इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं, और इन्हीं अपने अधिष्ठानों द्वारा ही ज्ञान को ढँक कर जीवात्मा को उसी प्रकार मोहित कर देता है जैसे इन्द्रजाल, देखने वाले को। इसलिये हे अर्जुन ! तुम्हें इस जीव–शत्रु से पिण्ड छुड़ाकर आत्म ज्ञान से प्रकाशमय एवं प्रतिभा सम्पन्न होना चाहिये। हम उपाय का कथन करते हैं सुनो, वह यह है कि तुम सर्वप्रथम इसके वासस्थान इन्द्रियों को अपने आधीन कर लो तत्पश्चात् ज्ञान और विज्ञान का विनाश करने वाले इस पापी काम को दृढ़ता पूर्वक मार डालने के लिये उतारू हो जाओ, बस मारने का निश्चय करते ही वह मृतप्राय होने लगता है और अन्त में उसका समूल विनाश उसी प्रकार हो जाता है जैसे पराक्रमी योद्धा से दस्युगण।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।४२।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।४३।।

बन्धु ! तुम यह न समझो कि इस महान शत्रु पर विजय हम कैसे पा सकेंगे, अरे भाई। तुम अपने बल पर विश्वास करो, इसका बल तुम्हारे बल के सामने नगण्य है। देखो शरीर से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ अर्थात् बलवान और सूक्ष्म हैं और इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है तथा मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से सर्वथा श्रेष्ठ और विलक्षण आत्मा है। आत्मा ही तुम हो इससे तुम सबसे श्रेष्ठ और बलवान हो, अतएव अपने को निर्बल मानने की भूल कभी न करना बस बुद्धि से इन्द्रियों सहित मन को वश में करके तथा अपने बल का उपयोग करते हुये इसको मौत के घाट उतारने में विलम्ब न करो क्योंकि यह साधारणतया दुर्जय शत्रु है, इस पर विजय प्राप्त करके ही जीव सुखी हो सकता है। संसार में तुम देखते हो कि कोई भी अपने बलवान शत्रु के रहते सुख का स्वप्न नहीं देखता, चिन्ता से उसकी छाती धधकती रहती है, ठीक इसी प्रकार इस काम शत्रु के रहते हुये कोई भी आत्मा के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता।

विशेष

ज्ञान योग और कर्मयोग दोनों श्रेष्ठ हैं, श्रेय प्रदायक हैं, किन्तु इन दोनों में कर्मयोग श्रेष्ठ है इसलिये कल्याणकामी को चाहिये कि त्याग का अभिमान लादकर केवल इन्द्रियों से कर्म न करने का स्वाँग न रचे। इस प्रकार कर्म न करने से निष्काम कर्म करना सर्वश्रेष्ठ है, जब कर्तापन के अभिमान से रहित फलाशा एवं आसक्ति को त्याग कर भगवदर्थ स्वधर्मानुसार कर्म किये जाते हैं तब वे कर्ता को लिप्त नहीं कर सकते अपितु मन को परम पवित्र बनाकर परमात्म प्राप्ति का हेतु होते हैं। यही भगवान श्रीकृष्णजी महाराज से कथित गीता के तीसरे अध्याय का सार तत्व एवं संदेश हैं।

चतुर्थ अध्याय

श्री भगवानुवाच –

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।१।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।।२।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।३।।

भगवान श्री कृष्ण जी महाराज बोले कि हे अर्जुन ! कल्प के आदि में इस अमृतानन्द प्रदान करने वाले विनाश रहित योग का उपदेश मैंने सूर्य को दिया था और सूर्य ने अपने पुत्र मनु को बतलाया था तत्पश्चात् मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु के प्रति कहा था। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग के रहस्य को राजर्षियों ने सर्वभावेन ग्रहण किया था किन्तु समय परिवर्तन–शील है कुछ काल में इस योग के ग्रहीता उत्तम व्यक्ति न होने के कारण इसका लोप सा हो गया था। सौभाग्य का विषय है समय पुनः साथ दे रहा है, आज मैं अपने सुहृद एवं अधिकारी भक्त को प्राप्तकर रहस्यमय उत्तम पुरातन योग का वर्णन कर रहा हूँ। आशा रखता हूँ कि तुम स्वयं इस योग में स्थित होकर दूसरे लोगों का भी कल्याण अपने आचरण द्वारा कर सकोगे।

अर्जुन उवाच –

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।।

भगवान के इस प्रकार के वचन सुनकर अर्जुन आश्चर्य चकित हो गये और अपने को संशयहीन की स्थिति में लाने के लिये श्रीकृष्ण जी महाराज से बोले, भगवन् ! आपका जन्म तो आधुनिक है अर्थात् अभी कुछ वर्ष पहिले का है और सूर्य का जन्म तो बहुत पुराना है, कितने युग व्यतीत हो गये, इसलिये मैं कैसे यह मानूँ कि कल्प के आदि में आपने इस योग का उपदेश भगवान भास्कर को दिया था। प्रभो ! कृपा करके मेरे इस संशय को शमन करने के लिये शीघ्र उपाय कीजिए।

श्री भगवानुवाच –

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।५।।

अर्जुन के उक्त प्रश्न को श्रवण कर भगवान श्रीकृष्ण जी महाराज, ईश्वर की सर्वज्ञता और जीव की अल्पज्ञता की ओर संकेत करते हुये बोले, बन्धु ! हमारे और तुम्हारे बहुत जन्म हो चुके हैं अर्थात् हम और तुम इस धराधाम में अनेक बार जन्म ले चुके हैं किन्तु हमारे और तुम्हारे में अन्तर इतना है कि हमें उन सभी जन्मों का सर्वभावेन भलीभाँति ज्ञान है और तुम्हें उन सब जन्मों में एक का भी ज्ञान नहीं है जैसे चक्षुवान पथिक को पथ में पड़ने वाले सभी नगरों का ज्ञान होता है। किन्तु नेत्र विहीन को किसी पुर के दृश्य का बोध नहीं होता।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।६।।

बन्धु ! एक गोपनीय वार्ता और बतायें तुमसे, वह यह कि मेरा जन्म अन्य संसारियों के सदृश नहीं है। मैं स्वयं अप्राकृत, अविनाशी, अजन्मा और समस्त प्राणी समुदाय का ईश्वर हूँ इसलिये मेरा जन्म भी असाधारण और दिव्य होता है, अपनी प्रकृति को आधीन करके अपनी योग माया से

प्रकट होना मेरे ही आधीन है अर्थात् किसी कर्म विपाक के आधीन होकर सुख दुःख भोगने के लिये नहीं है, अतएव मुझे अपने अनन्त जन्मों का ज्ञान बिना साधन के एक साथ बना रहता है।

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिभर्वति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।७।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे–युगे ।।८।।

हे भारत ! जब जब धराधाम में अधर्म की अभिवृद्धि और धर्म की हानि होने के कारण अनाचार अत्याचार, भ्रष्टाचार रूप पापाचार में मनुष्यों की प्रवृत्ति सहजतया हो जाती है और उसके परिणाम भूत प्रजा भय, रोग, शोक, वियोग आदि से संत्रस्त हो जाती है, तब तब दया परवश होकर साधु स्वभाव वाले जीवों का कष्ट निवारण करने के लिये एवं धर्म का उत्थान करने के लिये मैं अपने आपको अपनी इच्छा से प्रकट करता हूँ, जैसे वात्सल्यमयी माँ बच्चे को जब जब धूल एवं कीचड़ आदि से लिप्त एवं रोता हुआ क्रीड़ा स्थल में देखती है तब तब उस बच्चे के पास पहुंचकर उसके रुदन को शान्त करती है और उसको नहला धुलाकर निर्मल बना देती है तथा अपने अंक में बैठाकर विविध प्रकार से प्यार करती है भोजन पवाती है और पलंगे में पौढ़ा कर शयन कराती है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।९।।

हे सखे ! अब तुम यह भली–भाँति समझ गये होगे कि मेरे सभी जन्म और कर्म अप्राकृत अर्थात् सच्चिदानन्दमय हैं, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वतः मुझको व मेरे जन्मों और कर्मों को जानता है वह मेरा भक्त बन जाता है इसलिये वर्तमान शरीर के छूटने पर न तो उसका पुनर्जन्म होता है

और न उसका प्रकृति सम्बन्ध होता, वह मुझको ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् मेरे परम पद को प्राप्त करता है और मेरे साहचर्य को प्राप्त कर मेरे समान सर्व कार्मों का अनुभव करता है अमृतानन्द स्वरूप हो जाता है। जैसे कुम्भकार तत्त्वतः मिट्टी के विषय में ज्ञान रखता है इसलिये उसके मन में मिट्टी के बर्तनों एवं खिलौनों की उपज सहज ही समाहित रहती है और उसका मन मिट्टी के आकार वाला बना रहता है। वैसे ही मेरे जन्मों और कर्मों को जानने वाले का मन मेरे जन्म और कर्म के अनुसार ही सच्चिदानंदात्मक हो जाता है और अन्त में शरीर छूट जाने पर सच्चिदानन्द ही हो जाता है क्योंकि यह पुरुष अपनी श्रद्धा के अनुरूप आकार वाला होता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।।१०।।

हे अर्जुन ! मैं तुमसे उपर्युक्त वार्ता केवल कहने मात्र की नहीं कर रहा हूँ, तुम्हें उपदेश देने के पहिले भी बहुत से पुरुष अन्याश्रयण को छोड़कर अनन्यतया मेरी शरणागति ग्रहण किये हैं और मन्मय अर्थात् मेरे चिन्तन से, मेरे में घुले हुये से, मेरे ही में स्थित हो गये हैं तथा रागभय और क्रोध विहीन होकर ज्ञान रूप तप से पवित्रात्मा ही नहीं बन गये अपितु मेरे स्वरूप को उसी प्रकार प्राप्त हो गये हैं जैसे कीट, भृंग में अपना मन लगाकर भृंग के स्वरूप वाला बन जाता है। अतएव तुम्हें मेरे वचनों में प्रतीति करके मेरी उपदेश की हुई वार्ता को अक्षरशः अपनाना चाहिये।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम् वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

हे बन्धु ! मैं अपना सहज स्वभाव तुमसे रहस्यमय होते हुये भी छिपा नहीं सकता, मेरा दृढ़ निश्चय है कि जो मुझको जैसे भजता है मैं भी उसको

वैसे ही भजता हूँ, इसलिये मेरे इस रहस्यात्मक स्वभाव को समझकर बुद्धिमान पुरुष सर्वभावेन मेरे मार्ग अर्थात् भागवत धर्म के अनुसार वर्तते हैं। जैसे लोक में जिस राजा की प्रजा राज–धर्म अर्थात् राजा के अनुशासन के अनुसार चलती है वह सर्वविधि राजा की प्रसन्नता प्राप्तकर सुखी रहती है और वात्सल्यभाव से पूर्ण नीति निपुण राजा भी अपनी प्रजा के रंजन के लिये आत्मोत्सर्ग तक करने को तैयार रहता है वैसे ही मुझ परमात्मा को सम्पूर्ण जीवों का सुहृद समझो।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवतिकर्मजा।।१२।।

हे सखे। ऐसे स्वभाव वाला होते हुये भी मुझको तत्त्वतः सब नहीं जानते हैं, अतएव वे लोग कर्म फल की कामना में आसक्त होकर उसकी सिद्धि के लिये देवताओं की पूजा किया करते हैं, परिणाम में उनके कर्मों के फलस्वरूप उनकी कामना की सिद्धि भी शीघ्र हो जाया करती है परन्तु मेरी प्राप्ति उन्हें दुर्लभ ही नहीं अपितु अप्राप्य रहती है इसलिये तुम मेरा आश्रयण ग्रहण कर सर्व प्रकार से मुझको ही भजो। भाई ! सीमित शक्ति व वैभव वाले असंतोषी और अपूर्ण की सेवा से अपूर्ण और असन्तोष प्रदायक सिद्धियाँ ही तो मिलेंगी किन्तु पूर्ण और अनन्त तथा अचिन्त्य की सेवा से सेवक भी पूर्ण काम होकर आनन्दमय हो जाय तो इसमें क्या संदेह और आश्चर्य है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

हे सखे ! गुण और कर्मों के विभाग द्वारा चारों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र की रचना मेरे से ही हुई है, यह बात सत्य है किन्तु इन सबके कर्ता मुझको तुम अविनाशी और अकर्ता ही समझो क्योंकि मैं अपने स्वरूप में सदा स्थित और अभिमान रहित हूँ, जैसे सूर्य के प्रकाश की सकाशता

से लोक कर्मरत रहता है किन्तु सूर्य उन सब कर्मों का कर्ता नहीं होता और न कर्म में ही लिप्त होता, वैसे ही मेरी सकाशता से प्रकृति के गुणों द्वारा सृष्टि कार्य होता है परन्तु मैं अलिप्त और अकर्ता ही रहता हूँ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

बन्धु ! कर्मों के फलों में मेरी स्पृहा न होने के कारण कर्म मुझे लिप्त करने में सदा असमर्थ बने रहते हैं। इस प्रकार जो मुझे तत्त्वतः जानता है वह भी कर्मों के बन्धन से सदा मुक्त रहता है। क्षेत्र में बीज बोकर उसके फलों की इच्छा न रखने वालों को खेती की परिवृद्धि और ह्रासता से हर्ष और विषाद जैसे अपने वश नहीं कर सकते वैसे ही मुझसे किये गये कर्मों के रहस्य को समझो।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

जो मोक्ष–कामी पुरुष प्रथम हो गये हैं उनके द्वारा भी उक्त प्रकार जानकर ही कर्मों का अनुष्ठान किया गया है, इससे तुम भी पूर्वजों द्वारा सदा से आचरण में लाये हुये कर्मों को करो क्योंकि इससे पूर्वज बड़े प्रसन्न होते हैं और उनकी प्रसन्नता से आत्मकल्याण होता है और आत्म कल्याण ही पुरुषार्थ है। बन्धु ! आत्म कल्याण की उपेक्षा करके किये गये निषिद्ध कर्म अंधकारमय लोकों में मुनष्य को ले जाते हैं, तिर्यगादि योनियों में भ्रमण करते–करते एवं यम–यातना भोगते–भोगते शोक के समुद्र का किनारा प्राप्त होना असंभव हो जाता है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

हे सखे ! कर्म क्या है? अकर्म क्या है? इस विषय में इनके स्वरूप

के निश्चय करने में विज्ञजन भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं, अतएव मैं कर्म तत्त्व का निरूपण भलीभाँति तुमसे करूँगा जिसको जानकर तुम संसार बन्धन से मुक्त होकर परमात्म तत्त्व की प्राप्ति सहज ही कर सकोगे। विचार करो नट कृत कपट की केलि को देखकर बुद्धिमान जन भी मोहित हो जाते हैं किन्तु नट से बोध को प्राप्त नट का सेवक नट के खेल में जैसे मोहित नहीं होता वैसे ही मेरे द्वारा कर्मों के यथार्थ रहस्य को समझ लेने पर मोह उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

बन्धु ! मुमुक्षु को कर्म के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए और अकर्म के स्वरूप का भी बोध होना चाहिए तथा शास्त्र विरुद्ध निषिद्ध कर्म के स्वरूप को भी भलीभाँति समझना चाहिये क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन है। कहीं देखने में तो धर्म दिखता है परन्तु वह अधर्म हो जाता है और कहीं दीखता तो अधर्म है परन्तु परिणाम में धर्म हो जाता है, इसलिये उक्त विषय में प्रबुद्ध होना अति आवश्यक है।

कर्मण्य कर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्म कृत्।।१८।।

सखे ! समाहित चित्त से सुनो, जो पुरुष कर्म में अर्थात् कर्तापन के अभिमान से रहित एवं आसक्ति और फल की आकांक्षा के बिना की हुयी सम्पूर्ण चेष्टाओं में अकर्म अर्थात उनका न होना–पना देखता है और अकर्म में अर्थात् अज्ञानी पुरुष द्वारा किये हुये समस्त क्रियाओं के साभिमान त्याग में कर्म को अर्थात् त्याग रूप क्रिया को देखता है, वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान है, योगी है और भलीभाँति कर्म के रहस्य को समझकर निष्काम कर्म योग में आरुढ़ है जैसे यन्त्री से प्रेरित होकर कठपुतली नाचती है किन्तु वह स्वयं के अभिमान से रहित होने के कारण करते हुये भी कुछ

नहीं करती और खेत में खेती की रक्षा के लिये अचल अचेष्टित धोखा–पुरुष कुछ न करते हुये भी जानवरों को भय उत्पन्न करना रूप कर्म करता है। वैसे ही कर्म और अकर्म का रहस्य अपनी बुद्धि में तुम्हें स्थित कर लेना चाहिये।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

हे अर्जुन! जिस पुरुष की सम्पूर्ण चेष्टायें (कार्य) कामना और संकल्प के बिना प्रारम्भ होती हैं उसके समस्त कर्म ज्ञान की अग्नि से भस्मीभूत हो जाते हैं इसलिये बड़े–बड़े ब्रह्म–विद वरिष्ठ ज्ञानी लोग भी उस पुरुष को पण्डित उसी प्रकार कहा करते हैं जैसे वेद–वेद्य परमात्मा को प्राप्त कर लेने वाले अपढ़ को बड़े–बड़े वेदध्यायी विद्वान नत मस्तक होकर विद्वान एवं वेद–वेद्य को जानने वाला कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासंग नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।।२०।।

हे बन्धु! जो पुरुष कर्मफल अर्थात् संसारी भोग की आसक्ति और आकाँक्षा को त्यागकर निराश्रय हो जाता है तथा परब्रह्म परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर उन्हीं परमानन्द स्वरूप परमात्मा में नित्य तृप्त रहता है, वह पुरुष कतृत्वाभिमान से रहित होने के कारण भलीभाँति कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ भी कुछ नहीं करता है। जैसे पद्म–पत्र जल में उत्पन्न होता है और जल ही में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्तृत्वाभिमान भोक्तृत्वाभिमान और ज्ञातृत्वाभिमान से रहित पुरुष कर्म करते हुये कर्म फल से सदा असंग ही रहता है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

हे सखे ! जिस पुरुष के मन में न नाममात्र की आशा और न कोई आकाँक्षा रह गई है, जिसने अन्तःकारण को अपने आधीन कर लिया है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा में विलीन कर दिया है और सम्पूर्ण भोग सामग्रियों को त्यागकर जो अपरिग्रही हो गया है, वह पुरुष स्वभावानुसार केवल शरीर सम्बन्धी कर्म का अनुष्ठान करता हुआ भी पाप से लिपायमान नहीं होता जैसे मदारी से प्रेरित स्वभावानुसार नाचता हुआ बन्दर, नृत्य करने की प्रसंशा या निन्दा एवं मजदूरी से सर्वथा पृथक रहता है, उसी प्रकार ईश्वर की प्रेरणा से स्वभाव वश कर्म करता हुआ मनुष्य अहंकार और अकाँक्षा से रहित होने के कारण शुभाशुभ कर्मो से असंग ही रहता है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

हे बन्धु ! बिना इच्छा किये अपने आप जो कुछ भी मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट रहने वाला तथा समस्त द्वन्द्वों से रहित समत्व योग में स्थित रहने वाला पुरुष जो मत्सर विहीन सिद्धि और असिद्धि को समान समझने वाला है, वह कर्मों को भली–भाँति करके भी कर्म बन्धन से नहीं बँधता–जैसे स्वप्नावस्था के कर्म फलों से जागृत पुरुष को कोई प्रयोजन न होने से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा में स्थित जागरुक पुरुष को स्वप्नवत् संसार में स्वभावानुसार किये गये कर्म बाधक नहीं बनते।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

हे अर्जुन ! असंग अर्थात् कर्म से अलिप्त आसक्ति रहित एवं वासनाहीन आत्म–ज्ञान में स्थित चित्त वाले पुरुष, यज्ञ कर्म के लिये अनुष्ठान करते हुये भी कर्म द्वारा नहीं बाँधे जाते क्योंकि उनके सम्पूर्ण कर्म स्वयं फल न उत्पन्न कर नष्ट हो जाते हैं–जैसे अग्नि ईधन न देने से स्वयं शान्त

हो जाता है वैसे ही कर्म—वह्नि में फल की कामना रूप आहुति न देने से कर्म स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।।२४।।

हे सखे! अहंकार से अतीत होकर ब्रह्म बुद्धि से किये गये कर्म पुरुष को ब्रह्ममय बना देते हैं—ब्रह्म बुद्धि का प्रकार इस प्रकार है। यज्ञानुष्ठान करने वाला विवेकी पुरुष अर्पण अर्थात् श्रुवादिक को भी ब्रह्म समझता है, उसके ज्ञान में हवि अर्थात् हवन करने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म है, कर्ता (स्वयं) भी ब्रह्म है, इसलिये ब्रह्मरूप कर्म में समाधिस्थ हुये उस यजमान द्वारा जो प्राप्तव्य है वह भी ब्रह्म है। जैसे स्वप्न के संसार में दृष्टा जो भी देखता है वह सब स्वप्न असत् ही है, वैसे ही ब्रह्म दृष्टि से जो भी पुरुष देखता, सुनता, सूँघता, रस ग्रहण करता और स्पर्श करता है वह सब ब्रह्म ही है और अहं विहीन होने से वह भी ब्रह्म ही है, अतएव तुम्हें भी ब्रह्म बुद्धया समरयज्ञ का अनुष्ठान करते हुये ब्रह्म स्वरूप बन जाना चाहिये। शोक के मूल अहंकार को विवेक की तलवार से मारकर प्रकृति पर विजय प्राप्त करो और अप्राकृतिक ब्रह्म सुखका अनुभव कर ब्रह्म में लीन हो जाओ। यही परम प्राप्तव्य और यही परम पुरुषार्थ है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोजुह्वति।।२५।।

बन्धु! यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं अपनी—अपनी श्रद्धा एवं भावना के अनुसार लोग उनका अनुष्ठान करते हैं। कितने कर्मयोगी देवताओं की आराधना रूप यज्ञ करते हैं और कितने ज्ञानी जन परब्रह्म परमात्मा रूप अग्नि में अपनी आत्मा रूप हवि को हवन करते हैं अर्थात् परब्रह्म में एकीभाव से स्थित हो जाते हैं। अहं ब्रह्मास्मि आदि वेद मन्त्रों का

अनुसंधान रूप यज्ञ कर्म द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ को अर्थात् अस्मितादि को हवन करते हैं– जैसे अग्नि में अरणि डालने से अरणि भी अग्नि बन जाती है वैसे ही ब्रह्म में अहम् के साथ अपनी आत्मा को समर्पण कर एकीभाव से स्थित हो जाने से पुरुष भी ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

इसी प्रकार अन्य योगी लोग श्रवणादिक सभी इन्द्रियों को उनके विषयों से मोड़कर संयम रूप अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् विषय भोग प्रवृत्ति को विषय भोग–निवृत्ति रूप अग्नि में हवन करते हैं, और दूसरे योगी लोग शब्दादिक विषयों को आहुति इन्द्रिय रूप अग्नि में दिया करते हैं, अर्थात् प्राप्त विषयों को बिना राग द्वेष के इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं जिससे आसक्ति न होने से शब्दादि विषय इन्द्रियों ही में भस्म हो जाते हैं। हे सखे ! योगियों के ये यज्ञ शीघ्र परमात्मा में पुरुष को स्थित करने में उसी प्रकार समर्थ होते हैं जैसे खेचरी मुद्रा, मृत्यु पर विजय दिलाकर साधक को अमृत से परिपूर्ण करने में समर्थ होती है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

हे सखे ! और कितने योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्मों को तथा प्राणों के व्यापार को, परमात्मा में स्थित एवं ज्ञानयोग से प्रकाशित योगाग्नि में हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों व प्राणों को परमात्मा से प्रकााशित और परमेश्वर से अभिन्न सत्ता स्वरूप देखते है। अहंकार से रहित होकर सब कुछ परमात्मा ही कर रहा है अकेले एक परमात्मा की ही यह सब लीला है, न मैं हूँ, न मेरा है, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीवात्मा सब वही हैं ! इस प्रकार का अखण्ड परमात्मैक ज्ञान में स्थित रहना ही इन्द्रियों और प्राणों के व्यापार को आत्म संयम स्वरूप योगाग्नि में हवन करना

है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

हे बन्धु! अन्य कितने पुरुष ईश्वर के उद्देश्य से कई प्रकारों द्वारा द्रव्य का त्याग करते हैं, वैसे ही कितने लोग स्वधर्म पालन रूप तप यज्ञ को किया करते हैं और कितने अष्टांग रूप यज्ञ के अनुष्ठान में लगे रहते हैं और कितने ही यत्नशील लोग यम नियमादि के साथ भगवन्नाम का जप तथा सत् शास्त्रों के पठन पाठन रूप ज्ञान यज्ञ के अनुष्ठान में लगे रहते हैं।

अपाने जह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेशु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञबिदो यज्ञक्षपित कल्मषाः।।३०।।

इसी प्रकार दूसरे योगी लोग अपानवायु में प्राण वायु को हवन करते हैं और कितने ही प्राण वायु में अपान वायु की आहुति छोड़ते हैं, और अन्य योगीलोग प्राण और अपान की गति रोककर प्राणायाम के अनुष्ठान में पारायण बने रहते हैं। दूसरे कितने ही योगीजन नियमित आहार करते हुये प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। इस प्रकार यज्ञों द्वारा पाप का सर्वथा विनाश कर देने वाले सभी पुरुष यज्ञों के ज्ञाता और अनुष्ठानी हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञों के अनुष्ठान–परिणाम अनल्प अचिन्त्य और अमृत–मय आनन्द को देने वाला अत्यन्त मीठा होता है अधिक क्या कहूँ थोड़े में ही समझ लो कि उक्त यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले निष्काम

कर्मयोगी ज्ञानामृत का पान तो करते ही हैं साथ ही सनातन परब्रह्म परमात्मा को भी प्राप्त होते हैं परन्तु यज्ञ रहित मनुष्य को जब यह मनुष्य लोक ही सुखदाई नहीं होता तो परलोक की कथा क्या कही जाय वह उसे कैसे सुखदायी होगा। बन्धु ! लोक में देखा जाता है कि निषिद्ध कर्म करने वाले, अकीर्ति अपमान, अनादर और घृणा के पात्र बनकर लोक में शोक संताप से सदा संतप्त रहते हैं, भय, रोग, शोक, वियोग से विकल मना बने रहते हैं, शान्ति का स्वप्न नहीं देखते, तो उन्हें परलोक में सुख मिलेगा इसकी सम्भावना ही नहीं करनी चाहिये।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

हे सखे ! उक्त प्रकार से कहे गये अनेक भाँति के यज्ञों का विशद विवेचन विस्तार पूर्वक वेद वाक्यों द्वारा किया गया है, उन सब यज्ञों की उत्पत्ति शरीर मन और इन्द्रियों की चेष्टा द्वारा ही समझना चाहिए। इस प्रकार तत्वतः कर्म रहस्य का परिज्ञान करके निष्काम भावना से कर्मों का अनुष्ठान करने से तुम निश्चय ही संसार बन्धन से उसी प्रकार मुक्त हो जाओगे जैसे जाल के भीतर पड़ा हुआ चूहा जाल को काट कर जाल के बन्धन से सहज ही छूट जाता है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते।।३३।।

हे बन्धु ! मनः स्थिति के भेद से श्रुतियों ने मनुष्य के कल्याण के लिये विविध प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। जिनके मुख्यतः दो भेद हैं, एक प्राकृत द्रव्यमय यज्ञ और दूसरा अप्राकृत बोधमय ज्ञानयज्ञ, किन्तु इन दोनों में प्राकृत द्रव्यमय यज्ञ से अप्राकृत ज्ञान यज्ञ बहुत श्रेष्ठ है क्योंकि सम्पूर्ण सब प्रकार के अखिल कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में हो जाती है, अर्थात् ज्ञान हो जाने से स्वरूप में स्थित होने के कारण कर्मों का अनुष्ठान बन

ही नहीं सकता और न उनकी आवश्यकता ही रहती, क्योंकि कर्मों की आवश्यकता तभी तक है जब तक ज्ञान में स्थिति न हो जाय। पथ में चलने की आवश्यकता तभी तक है जब तक गन्तव्य स्थान में न पहुँचा जाय, पहुँच जाने पर जैसे चलना स्वयं शेष हो जाता है वैसे ही ज्ञान यज्ञ के यजमान बनने पर कर्ता के अखिल कर्म स्वयं शेष हो जाते हैं।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

उपर्युक्त वार्ता सुनकर अर्जुन के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि अभी तक भगवान निष्काम कर्मयोग का विवेचन कर मुझे स्वधर्मानुष्ठान में लगाने की प्रेरणा दे रहे थे किन्तु अब उस ज्ञान की महिमा बता रहे हैं जिसमें सम्पूर्ण कर्मों की परिसमाप्ति हो जाती है, अस्तु उस ज्ञान का बोध कैसे और किस प्रकार से किसके द्वारा प्राप्त होगा। अंतर्यामी भगवान श्री कृष्ण जी महाराज अर्जुन के मन की बात जानकर बोले हे अर्जुन ! मेरे कथनानुसार ज्ञान प्राप्त करने का उपाय यह है कि तुम महती जिज्ञासा को लेकर परम अद्वय तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी महापुरुष के पास शास्त्र विधि के अनुसार समित्पाणि जाओ और उनके चरणों में सर्वात्म समर्पण करते हुये साष्टांग प्रणिपात करो, तत्पश्चात अपनी जिज्ञासा उनके सम्मुख रखो और समीप रहकर उनकी सेवा प्रीति प्रतति और सुरीति के साथ करते हुये उन्हें प्रसन्न करो, तब वे तत्त्वदर्शी महात्मा तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे, जिसको जानकर तुम पुनः इस प्रकार के मोह को न प्राप्त होगे क्योंकि सूर्य के उदय होते ही जैसे अन्धकार सहज ही दूर हो जाता है वैसे ही ज्ञानी गुरु के बचनों से महामोह की निवृत्ति हो जाती है। बन्धु ! जब तुम ज्ञान प्राप्त कर लोगे तब सम्पूर्ण चेतनात्मक भूतों को अपनी आत्मा

में और मुझ परमात्मा में देखोगे और मुझको तथा अपने को सम्पूर्ण भूतों में देखोगे, अर्थात् एक सचिदानन्द्घन परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त तुम्हारे ज्ञान में कुछ न रह जाएगा, एकीभाव से तुम उसी में उसी प्रकार स्थित हो जाओगे जैसे जल की बूँद समुद्र में पड़ने से समुद्र ही हो जाती है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

यदि तुम्हारे मन में यह संदेह होता हो कि मैं जनसमूह का संहार करने वाला महापाप कर्मा हूँ तो भी तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिये, ज्ञानी गुरु के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य और सर्वश्रेयस्कर है क्योंकि ज्ञानरूपी नौका पाप के समुद्र से पार करने में सहज ही सक्षम होती है इसलिये ज्ञान की नौका में बैठकर तुम सहज ही अपहत् पाम्पा होकर पुण्य–श्लोक बन सकते हो, इसमें संदेह एवं कुतर्क का अवसर ही नहीं है। हे सखे ! जैसे ईंधन को प्रज्वलित अग्नि भस्म कर देने में सहज ही समर्थ होती है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि द्वारा सम्पूर्ण कर्म फलों को भस्म करने में विलम्ब नहीं होता अर्थात् ज्ञान के उदय होते ही कर्म अपने फलों सहित स्वरूपतः नहीं रह जाते।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

हे सखे ! सत्य कहता हूँ कि साधक को निष्पाप बनाने वाले यावत साधन हैं उनमें ज्ञान के समान पवित्र करने वाला अन्य कोई नहीं है, दीर्घ काल के सादर निरन्तर समत्व बुद्धि योग के अभ्यास द्वारा शुद्ध अन्तःकरण

हो जाने वाला पुरुष अपने आप अपनी ही आत्मा में उस ज्ञानानन्द का अनुभव करके कृतार्थ हो जाता है, जैसे ब्रह्मरन्ध्र से झर ने वाले अमृत रस का स्वाद सिद्ध योगी ही अनुभव कर सकता है वैसे ही ज्ञानानन्द का अनुभव ज्ञानी महापुरुष ही कर सकता है, अन्य के अनुभव का विषय नहीं है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३६।।

यदि कहो कि ज्ञान कैसे प्राप्त हो, इसका उत्तर यह है कि पुरुष को प्रथम सात्विक श्रद्धावान बनना चाहिये पुनः संयमी अर्थात् जितेन्द्रिय होकर ज्ञान की भूमिकाओं को क्रमशः पार करने में तत्पर हो जाना चाहिये। कुछ दिनों के अभ्यास एवं वैराग्य वृत्ति से उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और वह ज्ञान की तुर्यगा नामक सप्तमी भूमिका में स्थिति होकर कल्पना शून्य परम शान्ति का सुख शीघ्र प्राप्त कर लेता है। बन्धु ! बिना श्रद्धा और बिना यत्न तत्परता के दृष्ट पदार्थ (प्राकृत वस्तुयें) भी जब हाथ में नहीं आ सकतीं तब आध्यात्मिक पूर्ण प्राप्ति अर्थात् अप्राकृत अद्वय तत्व की उपलब्धि कैसे संभव हो सकती है। अतएव गन्तव्य पथ का पथिक बनकर एवं अन्य मार्ग को न देखते हुये तीव्र, मध्यम और मृदु संवेग के अनुसार गन्तव्य स्थान में पहुँचने का प्रयत्न करने वाला पुरुष ही लक्ष्य को प्राप्त कर प्राप्ति सुख का अनुभव कर सकता है, अन्य नहीं।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

हे सखे ! जो आत्मस्वरूप परमात्मस्वरूप और प्रबल विरोधिनी माया के स्वरूप को नहीं समझता और जिसकी श्रद्धा न परमात्मा में है न तद्विषयक ज्ञान में है तथा जो संशयात्मा है वह निश्चय ही परमार्थ से भ्रष्ट होकर उसी प्रकार पतनाभिमुख होता है जैसे पर्वत शिखर से गिरा

हुआ जल। संशयशील पुरुष के लिये न यह लोक है न परलोक है अर्थात् दोनों से वंचित होकर दुख का पिण्ड बन जाता है तथा सुख का स्वप्न भी नहीं देखता। गणिका का पुत्र जैसे किसी वर्ण में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं रखता और अन्त में दुखानुभूति के अतिरिक्त उसके हाथ कुछ नहीं लगता वैसे ही संशययुक्त पुरुष की दुर्दशा होना निश्चित रहती है।

योगसंन्यस्त कर्माणं ज्ञान संछिन्न संशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।४१।।

हे धनंजय ! समत्व बुद्धियोग का आश्रय लेकर जिसने सम्पूर्ण कर्मों की चेष्टा भगवदर्थ ही की है। और जिसका संशयान्धकार ज्ञानालोक से नष्ट हो गया है उस परमात्म परायण पुरुष को कर्म बाँधने में उसी प्रकार समर्थ नहीं होते जैसे गारुड़ि मंत्र जानने वाले के मंत्र पढ़ने से सर्प विष व्याप्त नहीं होता। अतएव निष्काम भगवदर्थ कर्म करते हुये एवं साथ ही परमात्म ज्ञान के सहारे अर्थात् कर्म और ज्ञान दोनों का अनुष्ठान साथ ही करते हुये देह्यात्रा करने से परमात्म प्राप्ति रूप सिद्धि अवश्य प्राप्त हो जाती है।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

हे भारत इसलिये तुम भी समत्व बुद्धि रूप योग में स्थिति हो जाओ और अज्ञान से उत्पन्न अपने इस संशय का ज्ञान रूपी तलवार से उच्छेदन करो तथा मेरे कथनानुसार अभयी बनकर संग्रामभूमि में खड़े होकर स्वधर्म पालन परमात्म प्रीत्यर्थ करने में विलम्ब मत करो क्योंकि स्वधर्म की सुलभता प्राप्त होने पर उसका अनुष्ठान न करने से लोक में अपकीर्ति और परलोक में महादुख

की प्राप्ति पुरुष को इच्छा न होने पर भी अनिवार्य रूप से हुआ करती हैं।

विशेष तात्पर्यार्थ

यज्ञादि कर्मों का निष्काम अनुष्ठान और ज्ञानयोग का अभिमान रहित अनुष्ठान साथ साथ करने से ही मोक्ष स्वरूप परमपद की प्राप्ति होना सम्भव है जो त्याग के अभिमान से कर्त्तव्य कर्म का आचरण नहीं करते, "मैं ज्ञानी हुँ मुझे कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है" इस प्रकार ज्ञान के अभिमानी अंधकारमय लोकों की प्राप्ति किया करते हैं और जो केवल सकाम कर्मों के अनुष्ठान में लगे हुये अपने को कर्तृत्वाभिमान से लादे रहते हैं, आसक्ति और आशा की युगल डोरी से अपने को बाँधे रहते हैं तथा आत्मा और परमात्मा विषयक ज्ञान से उपरत रहते हैं, ऐसे पुरुष भी अन्धकारमय लोक के ही निवासी बनते हैं, इसलिये निष्काम कर्मयोग और ज्ञान योग का स्वरूपतः अनुष्ठान साथ साथ करके परमधाम की प्राप्ति करनी चाहिये यही भगवान श्रीकृष्ण जी महाराज के मुखारविन्द से निकला हुआ गीता के चौथे अध्याय का सन्देह सौरभ है। अतएव मुमुक्षु वर्ग को चाहिये कि सद्‌गुरु से निष्काम कर्मयोग और ज्ञान योग के रहस्य को समझ कर ब्रह्म प्राप्ति के लिये उनके अनुष्ठान में अपने को लगा दें।

पञ्चम अध्याय

अर्जुन उवाच

सन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

उपर्युक्त वार्ता को श्रवण करके अर्जुन कर्म के विषय में पुनः संशय युक्त होकर बोले, हे कृष्ण ! आप कर्म संन्यास की और निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। अतएव हमारी बुद्धि दृढ़ निश्चय नहीं कर पाती, इसलिए हमारे कल्याण के लिये इन दोनों में एक जो आपका निश्चय किया हुआ कल्याणकारी मार्ग हो उसका वर्णन करें जिससे मैं दृढ़ निश्चयी बन कर आपके बताये हुये पथ का अनुसरण कर गन्तव्य स्थान की प्राप्ति सहज ही कर सकूँ। एक किसी स्थान के जाने के लिये यदि कई मार्ग हों तो भी पथिक सुगम और सरल पथ का ही अनुसरण करके जाने की इच्छा वाला होता है, इसलिये आप कृपा कर मेरी प्रार्थना पर ध्यान देते हुये दोनों में एक का विनिश्चय करें !

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्मकर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

अर्जुन के उक्त प्रश्न को श्रवण करके भगवान बोले, हे सखे ! कर्मों का संन्यास अर्थात् देह, इन्द्रिय मन–बुद्धि से होने वाली कर्म स्वरूप सम्पूर्ण चेष्टाओं में कर्तृत्वाभिमान का त्याग और निष्काम कर्मयोग अर्थात् समत्व बुद्धि योग से भगवदर्थ कर्मों का अनुष्ठान, यह दोनों ही श्रेयस्कर हैं किन्तु इन दोनों में कर्मों के संन्यास से निष्काम कर्मयोग साधन की दृष्टि से

अधिक सुगम होने के कारण श्रेष्ठ हैं। बिना आत्मबोध और बिना स्वरूप स्थिति के कर्म–संन्यास होना असंभव है, तत्वविद् ही उसके अधिकारी हैं किन्तु निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान देहधारियों से भी सुगमतया किया जा सकता है क्योंकि इसमें कर्तृत्वाभिमान होते हुये भी जब कर्मफल भगवदर्पित हो जाता है तब पुरुष कर्म फल से लिप्त नहीं होता और उसी गति को अन्त में प्राप्त होता है जिस गति को कर्म संन्यासी प्राप्त किया करते हैं।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। ३।।

इसलिये हे बन्धु ! जो मनुष्य न किसी से द्वेष करता है, अर्थात् अपने से बैर करने वाले की बुद्धि को देखकर प्रसन्न होता है, अहित का चिन्तन नहीं करता, और प्रीति, क्षमा, उपकार और कृपा के साथ ही अपने से शत्रुता रखने वाले के साथ व्यवहार किया करता है तथा किसी की आकाँक्षा नहीं करता अर्थात् सर्वभावेन कामनाओं का परित्याग कर देता है वह निष्काम कर्मयोगी निश्चय करके संन्यासी ही है क्योंकि राग द्वेष से मुक्त हो जाने वाला निर्द्वन्द्व पुरुष सुखपूर्वक संसार के बन्धन से छूटकर परमपद को प्राप्त करता है। जैसे लोक में देखा जाता है कि अपेक्षा और द्वन्द्वों से रहित रत्न राजमुकुट में स्थान प्राप्त करते हैं, वैसे ही प्राकृत पदार्थों से निरपेक्ष और दैवी गुणों से युक्त पुरुष अप्राकृत पर व्योम में स्थान प्राप्त करते हैं।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।। ४।।

हे सखे ! संन्यास और निष्काम कर्मयोग विचार करने पर एक ही ठहरते हैं क्योंकि कर्मफल इन दोनो आश्रई को बाँधने में समर्थ नहीं होते और महाफल स्वरूप परमात्मा दोनों को ही सुलभ होता है, अतएव पण्डित जन इन दोनों को अपृथक मानते हैं। मूर्ख लोग यदि इन दोनों के रहस्य को

न समझकर इन्हें पृथक्–पृथक् मानें तो क्या किया जाय? विद्वानों की बुद्धि में अविवेकियों की मान्यता का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता विचार करो कि एक आदमी मुद्रा स्पर्श नहीं करता और दूसरा अनिच्छित आ जाने पर ग्रहण करता हुआ सा दीखता है परन्तु अनासक्त भाव से वह उसे मिट्टी की तरह देखता है और स्वयं में खर्च न कर उस मुद्रा को खेल–खेलकर फेंक देता है या किसी दीन दुखी जरूरतमंद को दे देता है तो त्याग में दोनों एक से हैं और त्यागफल स्वरूप शान्ति लाभ के अधिकारी भी जब दोनों ही हैं तब दोनों में कौन सा अन्तर है ? अर्थात् दोनों साधन एक ही हैं।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

हे बन्धु ! ज्ञानयोग के द्वारा जो स्थान ज्ञानी प्राप्त करते हैं वही स्थान (परमधाम) निष्काम कर्मयोग द्वारा योगी लोग प्राप्त किया करते हैं, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग को एक करके देखता है, वही तत्त्वतः देखने वाला है। साधारणतया देखने में दो आभूषण तौल में बराबर शुद्ध स्वर्ण के बने होने पर भी बनावट और पहिरने के भिन्न–भिन्न अंग में अज्ञानी को पृथक्–पृथक् दीखते हैं परन्तु ज्ञानी को दोनों एक दीखते हैं क्योंकि दोनों सोने के बने हैं और कक्ष में भी बराबर हैं और भुनाने पर दोनों की कीमत एक ही मिलेगी, इसलिए सच्ची दृष्टि एवं सच्चा ज्ञान उसी का समझना चाहिए जिसे दोनों एक करके दीखते हैं।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।। ६।।

हे सखे ! एक विशेषता और भी है, वह यह है कि बिना निष्काम कर्मयोग के अभ्यास के, सन्यास अर्थात् कर्म करते हुये कर्तृत्वाभिमान का न होना अति कठिन है, परन्तु भगवान को अपने देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा तथा इनसे होने वाले सम्पूर्ण कर्मों का फल समर्पण करने वाला निष्काम

कर्मयोगी पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र प्राप्त करने में समर्थ होता है। जैसे काठ में रहती हुई अग्नि काठ को जलाने में बिना प्रकट अग्नि के सक्षम नहीं होती, कभी परस्पर अरणियों की घोर रगड़ से अर्थात् अत्यन्त कठिनता से जला पाती है परन्तु प्रकट पावक ईंधन को जला डालने में सहज ही समर्थ होता है वैसे ही उपर्युक्त सिद्धान्त को समझो।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। ७।।

हे सखे ! विशुद्ध अन्तःकरण के बल से जिस निष्काम कर्मयोगी ने शरीर और इन्द्रियों को वश में करके आत्मस्वरूप में स्थित रहने का स्वभाव बना लिया है एवं सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है, वह कर्म करता हुआ भी कर्म में उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे जल में रहता हुआ पद्म–पत्र जल से लिप्त नहीं होता। बन्धु ! मन्दिर और मन्दिर के देवता पृथक्–पृथक् हैं यह बात सहज ही समझ में आ जाती है, इसी प्रकार शरीर संघात और शरीर में रहने वाला आत्मा अलग अलग है, यदि यह बोध हो जाय कि हम आत्मा हैं शरीर नहीं तो उपर्युक्त स्थिति आने में कौन सी कठिनाई है ? कुछ नहीं। आत्म बोध द्वारा प्रकृति से सहज ही अलिप्त रहा जा सकता है।

नैव किंचित्करोमीति
युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्र–
न्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।। ८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। ६।।

हे सखे ! तत्त्वविद् सांख्य योगी को दृढ़ निश्चय के साथ निःसन्देह ऐसा मानना चाहिये कि देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता

हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, साँस लेता हुआ, वार्तालाप करता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, तथा आँखों को खोलता और बन्द करता हुआ भी मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, ये सब इन्द्रियाँ अपने अपने अर्थों में बर्त रहीं हैं अर्थात् गुण ही गुण में बर्त रहे हैं! दृष्टा बनकर शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की चेष्टाओं को देखता हुआ उसी प्रकार असंग बना रहे जैसे धर्मशाला में अनेक यात्री आते जाते तथा अनेक प्रकार की चेष्टा करते हैं, किन्तु धर्मशाला उनसे असंग ही बना रहता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संग त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

किन्तु यह स्थिति देह में स्थित प्राणियों द्वारा प्राप्त करना बड़ा कठिन है और निष्काम कर्मयोग साधन में सुगम है इसलिये जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मफलों को भगवदर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्मों का अनुष्ठान करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की तरह पापों से लिप्त नहीं होता अर्थात पाप उसका स्पर्श नहीं कर सकते इसलिये वह ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है! अतएव पुरुष को सुगम मार्ग का अनुसरण करके गन्तव्य स्थान में शीघ्र उसी प्रकार पहुँचना चाहिये जैसे निशाना लगाया हुआ तीर अप्रमत्त पुरुष के द्वारा छोड़ा हुआ शीघ्र लक्ष्य का भेद करता है।

कायेन मनसाबुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संग त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

हे सखे! इस प्रकार निष्काम कर्मयोग के रहस्यवेत्ता योगी लोग आसक्ति और फलाशा का त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये शरीर, मन, बुद्धि व केवल इन्द्रियों द्वारा कर्म का अनुष्ठान किया करते हैं। जैसे लोग किसी अन्य के गृह में निवास करते हुये वास–भवन की शुद्धि के लिये नित्य झाड़–बुहार व लेपन क्रिया ममत्व रहित करते हैं और समय पर उस स्वच्छ

भवन से चले जाने पर उसके प्रति आसक्ति नहीं रखते, उसी प्रकार देहधारी पुरुष को इस देह में निवास करते हुये अन्तःकरण की शुद्धि के लिये आसक्ति रहित कर्म करना चाहिये।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोतिनैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।। १२।।

बन्धु ! अब तुम स्पष्ट रूप से समझ गये होगे कि निष्काम कर्मयोगी समस्त कर्मों के फल को भगवदर्पण करके भगवत् प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त होता है और इसके बिलकुल विपरीत सकामी पुरुष कर्मफलों में आसक्ति व आकाँक्षा रखता हुआ कर्मानुष्ठान करके बन्धन को प्राप्त होता है अर्थात् कर्मफलों के अनुसार सुख–दुःख भोगता हुआ सदा संसार चक में परिभ्रमण करता है भाई ! सकाम कर्म और निष्काम कर्म में अन्धकार और प्रकाश, तथा ज्ञान और अज्ञान के समान अन्तर है इसलिये तदनुसार युक्त योगी और अयुक्त भोगी में शान्ति और अशान्ति की स्थिति सदा साथ रहती है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।। १३।।

हे सखे ! बाह्य और अन्तः इन्द्रियों को वश में करके सांख्य योगी पुरुष तो निःसंदेह कर्ता और कारयिता भाव को मन से त्याग कर नव द्वारों के पुर (देह) में रहता हुआ एवं कर्म को करता हुआ और करवाता हुआ भी न कुछ करता है और न कुछ करवाता है क्योंकि उसके अन्तःकरण में यथार्थ ज्ञान का प्रकाश छा गया है, वह समझता है कि इन्द्रियाँ अपने अर्थो में विचर रहीं हैं अर्थात् गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं। अतएव प्रकृति प्रभूत गुणों की ही सब चेष्टायें हो रहीं हैं, अस्तु वह आनन्द पूर्वक सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा में सदा एकीभाव से स्थिर रहता है। भाई ! नमक की डली समुद्र में पड़कर स्वयं के अस्तित्व को जब खो चुकी तब उसमें

उसका कुछ नहीं रह जाता, ठीक इसी प्रकार जब जीव ब्रह्म स्वरूप में स्थित हो जाता है तब उसमें स्वभाव वश कर्मों का दर्शन होते हुये भी उनमें उसका कर्ता और कारयिता का भाव निःशेष हो जाता है। भाई ! विचार करो, जलाशय में स्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के हिलने से हिलता हुआ दिखाई तो देता है किन्तु वास्तव में सूर्य हिलता नहीं है। ठीक इसी प्रकार शरीर की पुरी में स्थित आत्मा चेष्टा करता हुआ मालूम पड़ता है किन्तु करता नहीं, चेष्टा तो प्रकृति का कार्य स्वरूप शरीर संघात ही करता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।। १४।।

हे बन्धु ! परम प्रभु परमात्मा ने लोक के समस्त प्राणी समुदाय के न कर्तापन को न कर्मों को और न कर्मों के फल के संयोग को बनाया है अर्थात् जीवात्मा न कर्ता है न भोक्ता और जब कर्ता ही नहीं तो करने के लिये उसको कर्म कहाँ स्पर्श कर सकते हैं, इसलिये वह सहज ही कर्तृत्व भाव, भोक्तृत्व भाव से अछूता है, अगर तुम्हारे हृदय में यह प्रश्न उठे कि फिर कर्ता कौन है तो उसका उत्तर यह है– वास्तव में परमात्मा की सकाशता से प्रकृति ही सब कुछ करती है अर्थात् गुण ही गुणों में वर्तते हैं। जैसे नाव में बैठा हुआ मनुष्य स्वयं नहीं चलता, चलती नाव है, वैसे ही शरीर में स्थित आत्मा में करने और भोगने की चंचलता नाम मात्र की नहीं है, इन्द्रियाँ ही अपने–अपने अर्थों में विचरती हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।। १५।।

सर्वान्तर्यामी परमात्मा की सकासता से प्रकृति कार्य करती है, यह बात सत्य है किन्तु वह परब्रह्म परमात्मा जो सबके हृदय में आत्मरूप से स्थित है न किसी के पापकर्म को और न किसी के पुण्य कर्म को ग्रहण करता

है, परन्तु बड़े दुःख का विषय है कि अविद्या के कारण ज्ञान ढँक जाने से जीवात्मा मोह को प्राप्त हो रहा है जिससे वह अपने को ही पापकर्मा, पुण्यकर्मा और उनके फलों को भोगने वाला समझ रहा है। बन्धु ! हरे, पीले, नीले और लाल आदि रंग के फूलों के प्रतिबिम्ब से स्फटिक मणि हरी, नीली, पीली और लाल रंग की दिखाई देने का कारण देखने वाले का अज्ञान ही है, वास्तव में स्फटिक मणि तो शुक्ल (सफेद) ही है उसमें किसी रंग का स्पर्श नहीं हो सकता।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

परन्तु अज्ञान, अन्यथा ज्ञान, और विपरीत ज्ञान उत्पन्न करने वाला मोहान्धकार, आत्म ज्ञान रूप सूर्य के प्रकाश से जिसका नष्ट हो चुका है, उसके हृदय में सूर्य के सदृश उस ज्ञान से सच्चिदानन्दघन पूर्णतम परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का स्वरूप पूर्णतय प्रकाशता है अर्थात् वह पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार करता है। भाई ! अन्धकार पूर्ण गुफा में रखी हुई वस्तु प्रयत्न करने पर भी दृष्टि में नहीं आती, किन्तु दीपक के जाते ही वह वस्तु साक्षात् हो जाती है, इसी प्रकार ज्ञान दीप के द्वारा अपने हृदय गुफा में स्थित परमात्मा के साक्षात्कार के विषय में भी समझना चाहियें

तद्‌बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गछन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

हे बन्धु! परमात्मा के स्वरूप का विचार करते–करते जिसकी बुद्धि परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में ही विलीन होकर तदाकार हो गई है, जिसका मन उस सच्चिदानन्दघन परमेश्वर का चिन्तन व मनन करते–करते मरकर उन्हीं में समा गया है, जो पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा में निष्ठावान है अर्थात् उनके व्यक्त अवयक्त स्वरूप का ज्ञानी बनकर उन्हीं के नाम,

रूप, लीला और धाम में आसक्त मन वाला हो गया है और जो परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानता। मैं–मेरे और तू–तेरे के भाव से रहित हो गया है, वह परमात्मपरायण पुरुष ज्ञान की अग्नि से सम्पूर्ण पापों को भस्मीभूत करके अपुनरावृत्ति अर्थात परमगति को प्राप्त कर पुनः वहाँ से उसी प्रकार नहीं लौटता जैसे लक्ष्य में तन्मय हुआ बाण।

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

हे सखे ! मुक्ति प्रदायिनी ब्रह्म विद्या एवं विद्या से प्राप्त विनय से सम्पन्न ब्रह्मवर्ची ब्राह्मण में तथा गौ, गज, कुत्ते और चाण्डाल में एक ही परमात्मा अन्तर्यामी रूप से प्रतिष्ठित है, इस प्रकार ज्ञान के नेत्रों से सबमें समभावतया देखने वाले समदर्शी सज्जन ही पण्डित कहलाने योग्य हैं, इसके विपरीत किसी से राग किसी से द्वेष और किसी से घृणा किसी से उपेक्षा करने वाले अज्ञानी, अपण्डित (मूर्ख) हैं। हाँ यह बात सत्य है कि पण्डित लोग समदर्शी होते हुये भी पूर्णरूपेण समवर्ती नहीं हो पाते जैसे ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल के मज्जन, अशन और शयन की क्रिया में उनके सुख का ध्यान रखते हुये एक प्रकार का निर्वाह उसी प्रकार नहीं हो पाता जैसे पुरुष के मुख और गुदा आदि कर्मेन्द्रियों और चक्षु श्रवण आदि ज्ञानेन्द्रियों के साथ एक ही प्रकार का कार्य नहीं कराया जा सकता न एक ही प्रकार की औषधि आदि देकर सबके साथ सम बर्ताव किया जा सकता। जैसे शरीर के सब अंगों से अंगी की प्रीति होती है सबके हित की कामना होती है तथा सबका धारक पोषक अंगी ही होता है और अंगों के दुःख से दुःखी भी दिखाई देता है, घृणित अंग से भी घृणा नहीं करता अपनत्व की भावना से ओत प्रोत रहता है, उसी प्रकार सम दृष्टि रखने वाले पण्डित जन भी अपने ज्ञान को सुरक्षित रखते हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्मतस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१६।।

भाई अर्जुन! समदर्शी सज्जनों की महिमा महान है, उन लोगों ने समत्वभाव में मन को स्थित कर जीते जी ही इसी शरीर में रहते हुये संसार को जीत लिये हैं अर्थात जीवन्मुक्त हो गये हैं क्योंकि परब्रह्म परमात्मा निर्दोष अर्थात प्रकृति सम्बन्ध से रहित और समस्वरूप है उसमें असमता का स्पर्श कभी नहीं होता इसलिये ऐसे परब्रह्म में स्थित पुरुष ब्रह्म ही है श्रुति प्रमाण देती है कि "ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति" इसमें आश्चर्य संशय और कुतर्क करने का अवकाश नहीं है। अग्नि में डालने से कोई भी वस्तु जैसे अग्नि का रूप धारण कर लेती है उसी प्रकार सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्म में स्थित मन वाला पुरुष भी ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

बन्धु! धन्य हैं वे पुरुष जो अनुकूल (प्रिय) परिस्थिति को प्राप्त कर उत्साहित नहीं होते और प्रतिकूल परिस्थिति को प्राप्त कर अनुत्साही अर्थात उद्वेगित नहीं होते। ऐसे स्थित बुद्धि वाले ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता पुरुष पूर्णतम परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में ही स्थित हैं क्योंकि जो प्रकृति और प्रकृति के गुणों से अपने को अलग देखता है, प्रकृति सम्बन्ध विहीन हो गया है उसकी स्थिति अप्राकृत परम तत्त्व ही में समझनी चाहिये। भाई! जो नदी के इस पार नहीं है उसे उस पार ही समझना चाहिये जो मूर्ख नहीं है उसकी गणना विद्वानों में ही होनी चाहिये जो कच्चा नहीं है वह पक्व अवस्था को अवश्य ही प्राप्त है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा–विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा–सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

सखे ! जो पुरुष वाह्यमुखी इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति नहीं रखता अर्थात शब्द, रूप स्पर्श, रस और गन्ध इत्यादि ग्रहण वाले संसारी भोगों से वितृष्ण हो गया है और अपने अन्तःकरण में आत्मा परमात्मा के संप्रयोग जनित आनन्द की अनुभूति करता है, वह निश्चय ही सच्चिदानन्दघन पूर्णतम परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान रूप योग में एकीभाव से स्थित हुआ अक्षय अमृतानन्द का अनुभव करता है। भाई जैसे दूध के साथ मिल जाने से पानी भी दूध के समान ही हो जाता है और दूध की कीमत वाला होकर लोगों के अनुभव का विषय बनता है उसी प्रकार अयुक्त पुरुष भी युक्त स्वरूप परमात्मा में स्थित मनवाले होकर परमात्य स्वरूप ही हो जाते हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। २२।।

बन्धु ! संस्पर्शादि विषयों एवं त्वक आदि इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होने वाले यावत भोग हैं, वे विषय प्रवण जीवों को यद्यपि सुख स्वरूप उसी प्रकार भासते हैं जैसे खाज खुजलाने से सुख सा प्रतीत होता है अर्थात् विषयों में सुख की प्रतीति भ्रम मूलक और निःसंदेह दुःख की जननी है तथा इस असत्य सुख का आदि अन्त होना स्वभाव है अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये विवेकशील पुरुष विषय सुख से सर्वदा वितृष्ण रहा करते हैं। विष मिश्रित व्यंजनों के स्वरूप को न समझने वाले कूकर आदि अज्ञानी एवं लोलुप जीव ही उसे पा सकते हैं परन्तु उसके मर्म को जानने वाले जानकार उसे कभी नहीं ग्रहण कर सकते। अतएव विषय लोलुप बन कर अपना आत्म विनाश कभी नहीं करना चाहिये।

शाक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखीनरः।। २३।।

हे सखे! वीर वही है जो कामनाओं को सर्वभावेन जीत लेता है क्योंकि वासना विहीन हो जाना ही भव बन्धन से मुक्त हो जाना है, अतएव जो पुरुष शरीर त्यागने के पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुये वेग को सहने में समर्थ हो जाता है अर्थात् काम क्रोध से रहित हो जाता है वही मनुष्य इस लोक में योगी है और वही आनन्द की अनुभूति कर रहा है शेष सारे संसारी रागद्वेष की अग्नि में जरते बरते ही जीवनयापन कर रहे हैं। देवलोक, मृत्युलोक और नागलोक में कितने बड़े–बड़े वैभवशाली हुये हैं कि जिन्हें संसारी सुख साधन सामग्रियाँ सुलभ थीं किन्तु मानसिक रोगों के शिकार बनकर अशान्ति का ही आलिंगन करते रहे अतएव यह जान लो कि अशान्त को सुख का दर्शन दुर्लभ ही नहीं अपितु अप्राप्त रहता है।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। २४।।

हे सखे ! जो पुरुष दृढ़ता पूर्वक आनन्दमय अन्तरात्मा में ही आनन्द की अनुभूति करने वाला है अर्थात् प्रकृति सम्बन्ध के भोगों से उपरत होकर अन्तर्मुखी वृत्तिवाला होकर आनन्दमय हो गया है और आत्मा में ही रमता हुआ वहीं शान्ति सुख का अनुभव करता है तथा जो ज्ञान स्वरूप आत्मा का साक्षात करके ज्ञानस्वरूप हो गया है, जिसे आत्मप्रकाश के कारण प्रकृति सम्बन्धी सूर्यादि के उदयास्त का भान ही भूल गया है, ऐसा वह योगी सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव की स्थिति में स्थित होकर मोक्ष स्वरूप शान्त ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है। सुगन्धित तेल एवं इत्रादि के लगाने तथा सुगन्धित वस्तु के खाने के अभ्यासी पुरुष की देह जैसे सुगन्धित हो जाती है उसी प्रकार आनन्द स्वरूप आत्मा में चित्त लगाने से अर्थात् आत्मा में ही चित्त विलीन हो जाने से चित्त भी चैतन्य

हो जाता है और आनन्दमय विज्ञानमय बनकर बाहर के विषयों को भूल जाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। २५।।

हे सखे ! परब्रह्म परमात्मा कुयोगियों को कभी नहीं प्राप्त होता, उनके लिये वह समीप होते हुये भी अत्यन्त दूर है। सूक्ष्मदर्शी ब्रह्मविद वरिष्ठ ही निर्वाण स्वरूप परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति करते हैं क्योंकि वे पापरहित अर्थात् पुण्य मूर्ति हो जाते हैं उनके हृदय सर्वथा संशय से हीन होकर परमात्म–प्रेम से प्रयुक्त हो जाते हैं, वे शम दमादि सम्पत्तियों से युक्त होकर निरन्तर परमात्मा में ही रमण करने के अभ्यासी हो जाते हैं और सम्पूर्ण भूत प्राणियों के हित में लगे रहने के कैंकर्य परायण बन जाते हैं। भाई ! जब सुपारी लगाने वाला पुरुष उसकी यथेष्ठ सेवा करते करते कहीं पच्चीस वर्ष में सुपारी के फलों को अपने नेत्रों से वृक्ष में लगे हुये देख पाता है तब अदृष्ट परमतत्व बिना प्रयत्न और बिना वैराग्य के कुयोगी पुरुष को कैसे प्राप्त हो सकता है, वह तो उपर्युक्त सच्चे श्रेष्ठ योगी को ही अपना साक्षात्कार कराता है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।। २६।।

बन्धु ! कामी क्रोधी पुरुष शान्त स्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का दर्शन उसी प्रकार नहीं कर सकते जिस प्रकार नेत्र विहीन पुरुष किसी दृश्य का। वह नित्यमुक्त, शुद्ध बुद्ध परब्रह्म परमात्मा काम क्रोधादि दोषों से विहीन पुरुष को उसी प्रकार से प्राप्त होता है जैसे नेत्रवान पुरुष के नेत्र का विषय दृश्यमान जगत बनता है, वास्तव में आत्म विशारद ज्ञानी लोग ही यतात्मा होकर अपने बाहर भीतर सब ओर से परिपूर्ण परमशान्त

परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। विषयों का सेवन करते करते ज्ञान की आँखें फूट जाने से ज्ञान स्वरूप परमात्मा अन्धे को सूर्य के समान न दीख पड़े तो इसमें आश्चर्य क्या ? यह तो स्वाभाविक है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरेभ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्ष परायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

हे सखे ! जो मननशील मोक्ष परायण मुनि कामना हीन हो जाने से भय और क्रोध से रहित हो जाता है वह सर्वदा मुक्त ही है क्योंकि वासना युक्त होना ही बन्ध है और वासना विहीन हो जाना ही मोक्ष है, ऐसा पुरुष बाहर के सम्पूर्ण विषयों को चित्त का विषय न बनाता हुआ उन्हें बाहर ही त्याग देता है और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच आज्ञा चक्र की जगह स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास द्वारा इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जीत लेता है जिससे वह परमात्मा में सहज स्थित हो जाता है। देह इन्द्रिय मन और बुद्धि ही प्राकृतिक संसार है जिसको जीतने वाला अप्राकृत ही होगा, यह सिद्ध वैसे ही है जैसे अन्धकार को जीतने वाला प्रकाश होता है, इसलिये इन्द्रियजित दृढ़ योगी स्वयं इन सबसे परे व विलक्षण है अर्थात् माया के परे परब्रह्म स्वरूप ही में स्थित है, यह ज्ञान चक्षु से निःसन्देह समझ में सरलतापूर्वक आ जाता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

हे सखे ! रहस्यमयी एक वार्ता तुमसे कहता हूँ सुनो, वह यह कि जिस

परब्रह्म परमात्मा में चित्त का लय करने से पुरुष ब्रह्म स्वरूप होकर परम शान्ति को प्राप्त होता है वह परब्रह्म मैं ही हूँ और सगुण साकार रूप से तुम्हारे नेत्रों का विषय बन रहा हूँ। मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों और तपों का भोक्ता हूँ और मैं ही सर्व लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर हूँ अर्थात एक मैं ही निरंकुश शासक हूँ, करने और न करने तथा अन्यथा करने की अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न हूँ, काल कर्म स्वभाव और गुणों का भक्षक एवं माया पति उरप्रेरक ओर हृषीकेश हूँ। मैं ही समस्त भूत प्राणियों का सुहृद अर्थात स्वार्थ रहित प्रेमी हूँ। उक्त प्रकार स्वरूपतः मुझे जानकर मेरा शरणापन्न भक्त परम शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात अशान्तमय संसार उसके लिये नष्ट हो जाता है केवल सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही उसे चारों ओर दीख पड़ता है, उसके इन्द्रिय मन बुद्धि आदि तत्व अमृतानन्द में संलीन होकर आनन्दमय ही हो जाते हैं। चकोर चन्द्र को और कमल सूर्य को देखकर जैसे सुख का अनुभव करते हैं वैसे ही भक्त पुरुषोत्तम भगवान का साक्षात् कर सुखी हो जाते हैं।

तात्पर्यार्थ

साँख्य योग और निष्काम कर्म योग दोनों एक ही फल को देने वाले हैं बालबुद्धि वाले पुरुष ही इन्हें पृथक बतलाते हैं, हां यह बात अवश्य है कि इन दोनों में निष्काम कर्म योग साधन काल में सरल है और सांख्य योग देह बुद्धि वालों के लिये अत्यन्त कठिन है। अतएव पुरुष को चाहिये कि परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को ही भोक्ता समझकर समस्त शास्त्र विहित कर्मों के अनुष्ठान का फल उन्हीं को समर्पण कर दे और स्वयं उन कर्म फलों से अलिप्त रहे क्योंकि जीवात्मा को ईश्वर ने कर्मफल को भोगने

वाला स्वभाव से नहीं रचा है। परमात्मा को ही कर्ता–धर्ता मानकर कर्तृत्वाभिमान से अछूता रहकर उन्हीं को अपना सुहृद समझते हुये शान्ति का सदा अनुभव करे, यही पाँचवें अध्याय में कथित भगवान का सारभूत संदेश है।

वाला स्वभाव से नहीं रचा है। परमात्मा को ही कर्ता–धर्ता मानकर कर्तृत्वाभिमान से अछूता रहकर उन्हीं को अपना सुहृद समझते हुये शान्ति का सदा अनुभव करे, यही पाँचवें अध्याय में कथित भगवान का सारभूत संदेश है।

षष्टम–अध्याय

श्री भगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।१।।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।।२।।

हे सखे ! यह वार्ता विचार पूर्वक हृदय में धारणकर लो कि जो पुरुष करने योग्य शास्त्र–विहित कर्म को कर्त्तव्य समझ कर करता है परन्तु उसके फल को नहीं चाहता, भगवदर्थ कर्म करना ही स्वरूपानुकूल जानता है, वही सच्चा सन्यासी और योगी है। भला बताओ कि जो मालाकार बगीचे में फल–फूल देने वाले वृक्षों का आरोपण करता है, पानी आदि के द्वारा उनका वर्धन करता है और फल–फूल आने पर उन्हें अपने स्वामी को सर्वस्व सौंप देता है, तथा वृक्षों के सूख जाने पर या फल फूल न आने पर विषाद नहीं करता, बगीचे में ममकार की वृत्ति जिसके चित्त में अंकित नहीं है, वह त्यागी नहीं तो क्या है ? इसी प्रकार जिसे कर्मफल की कामना नहीं स्पर्श करती उसे करते हुये भी कर्म का त्यागी ही जानना चाहिये–नौकरी करके वेतन न लेने वाले को त्यागी ही अर्थात् संन्यासी ही समझना चाहिये। बहुत से पुरुष संन्यास का वृथा अहंकार अपने ऊपर लादकर अग्नि का त्याग करते हैं अर्थात् न तो हवनादि कर्म करते और न स्वयं व अन्य के लिये अन्न पकाते, कहते हैं कि हम सन्यासी हैं, ऐसे स्वरूप में स्थित न होने वाले अहंकारी अग्नि न छूने मात्र से सन्यासी नहीं कहे जा सकते, इसी प्रकार कर्म न करने का अभिमान रखकर अपने को योगी बताने वाले पुरुष क्रिया के त्याग मात्र से योगी नहीं कहे जा

सकते क्योंकि कर्म के त्याग रूप अभिमान की क्रिया उनसे हो रही है। संकल्पों के शमन होने पर ही कोई भी पुरुष योगी कहलाने योग्य होता है और संकल्पों का शमन बिना निष्काम कर्म योग के होना असंभव है। जैसे बिना जल के रस नहीं होता बिना पृथ्वी के गंध नहीं होती वैसे ही बिना संकल्पाभाव के कोई योगारूढ़ नहीं हो सकता अस्तु–कर्म न करने के आग्रही योगी नहीं कहे जा सकते, योगी को कर्म करने और न करने से न तो कोई प्रयोजन होता और न कोई आग्रह। इसलिये हे अर्जुन! जिसे सन्यास ऐसा लोग कहा करते हैं, उसी को तुम योग जानो, मनीषियों का यही सिद्धान्त है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।३।।

हे बन्धु! समत्वबुद्धि रूप योग में सम्यक रूपेण स्थित होने का निश्चय करने वाले मननशील पुरुष के लिये योग की उच्च स्थिति अपनाने में निष्काम कर्म करना ही हेतु कहा गया है और योगारूढ़ पुरुष के लिये सर्व संकल्पों का अभाव ही कल्याण का हेतु शास्त्रों और सन्तों ने बताया है। निद्रा में स्थित होने के लिये प्रथम आलस, जमुहाई, अँगड़ाई इत्यादि जैसे हेतु हैं और गाढ़ निद्रा में लीन हो जाने पर इनका सर्वथा अभाव ही सुख पूर्वक सोने का हेतु है वैसे ही योग में स्थित होने की इच्छा वाले और योगारूढ़ पुरुष के लिये निष्काम कर्म योग और सर्व संकल्पों का अभाव हेतु कहा गया है। अस्तु यह समझ कर तुम्हें निष्काम कर्म योग का अनुष्ठान प्रथम करना आवश्यक है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्व संकल्प संन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।४।।

जिस समय पुरुष न तो इन्द्रियों के अर्थों अर्थात् विषय भोगों में आसक्त होता और न कर्मों में ही आसक्त होता उस समय सम्पूर्ण संकल्पों के भाव

से शून्य रहने वाला त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है। बन्धु ! जैसे जितात्मा पुरुष रसना के रस में नहीं आसक्त होता और न रस ग्रहण करने के साधन ही में लगता किन्तु प्रारब्धानुसार समय समय पर आसक्ति और रागद्वेष बिना शरीरावधि भोजन करता ही है, वैसे ही योगारूढ़ पुरुष भी संकल्पहीन होते हुये भी बिना आसक्ति और बिना संकल्प के स्वभावानुसार अहं विहीन कर्म करता ही है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।५।।

सखे ! युक्त योग रूढ़ता ही पुरुष को कल्याण स्वरूप बना सकती है अन्यथा कुयोगिता तो स्वयं अन्धकार स्वरूपा है दुःख की खानि है, इसलिये मनुष्य को चाहिये कि अपना उद्धार अपने से ही करने की चेष्टा करे अपनी आत्मा को अधोगति में न ले जाय अर्थात् अपनी आत्यान्तिक दुःख की निवृत्ति में स्वयं सहायक बने, क्योंकि यह जीवात्मा आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है अर्थात् इसको सुख दुःख देने वाला अन्य कोई न मित्र है न शत्रु है। अमृत और विष दोनों के गुणों को जानने वाला व्यक्ति बुद्धिपूर्वक यदि अमृत पीता है तो अवश्य अमरता को प्राप्त करता है और विष को जान बूझकर पीने वाला निश्चय मर जाता है, इससे यह सिद्ध है कि यह अपना ही मित्र और अपना ही शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६।।

बन्धु ! जिस पुरुष द्वारा इन्द्रियों सहित अन्तःकरण जीत लिया गया है अर्थात अपने अधीन कर लिया गया है उस जीवात्मा का वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण नहीं जीते गये हैं उस जीवात्मा का वह आप ही शत्रु है जैसे मन चले घोड़े रथी की असावधानता से खाँई में रथ को गिराकर उसको कष्ट पहुँचाते हैं और

सारथी एवं रथी के सावधान रहने पर रथ को सकुशल गन्तव्य स्थान पर पहुँचाते हैं वैसे ही प्रमत्त एवम् अप्रमत्त पुरुष स्वयं अपने आप ही अपनी इन्द्रियाधीनता एवं विजयता से शत्रु और मित्र बन जाते हैं अस्तु अपने को ही अपना मित्र और शत्रु समझना चाहिये।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।७।।

बन्धु ! जो सर्दी–गर्मी और सुखादिकों में तथा मान और अपमान की प्राप्ति में अपने अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रशान्त बना रखा है अर्थात उक्त द्वन्द्वों को प्रकृति जन्य समझकर एवं अपने आत्म सम्बन्ध से सर्वथा उन्हें पृथक समझकर उनके प्रभाव से प्रभावित नहीं होता, वह स्वाधीन आत्मा वाला पुरुष अवश्यमेव सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा को अपने ज्ञान में सम्यक् रूपेण स्थित कर रखा है अर्थात उसके ज्ञान में परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। जिसके पैर में चमड़े के जूते हैं, उसके लिये सम्पूर्ण पृथ्वी जैसे चमड़े से ढँकी है वैसे ही जिसके चित्त में परमात्मा समाहित है, उसकी दृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।८।।

हे सखे ! ज्ञान–विज्ञान की स्थिति प्राप्त कर जिसकी आत्मा पूर्ण तृप्त हो चुकी है अर्थात अन्य प्रयोजन से हीन हो गयी है, जो स्वरूप में ही सदा स्थित रहता है अर्थात प्रकृति कार्य को द्रष्टा बनकर देखता रहता है, जो सर्वभावेन इन्द्रियों को अपने आधीन कर अन्तर्मुखी वृत्तिवाला हो गया है, जो मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण को समान दृष्टि से देखता है, वह योगी अवश्य ही युक्त है अर्थात परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति वाला है भगवान और उस भक्त का पूर्ण रूपेण योग हो चुका है जैसे हल्दी और चूना दोनों मिलकर एक अनोखे रंग में परिवर्तित हो जाते हैं, अपने–अपने

रंग को दोनों त्याग देते हैं, वैसे ही भक्त और भगवान मिलकर एक अनुपमेय आनन्द का अनुभव करते हैं अपने–अपने अहं को खोये रहते हैं।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्य बन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।६।।

हे बन्धु ! स्वप्रयोजन रहित सबका हित करने वाले सुहृद, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुजनों में तथा साधु स्वभाव से युक्त पुण्यात्माओं और पापियों में जो पुरुष समबुद्धि वाला अर्थात समभाव वाला है वह अत्यन्त श्रेष्ठ है क्योंकि उसके ज्ञान में दोष और गुण प्रकृति के हैं। आत्मा सबमें एक ही है जो शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त है, अतएव वह राग द्वेष से पार होकर सम बुद्धि वाला हो जाता है। सूर्य की किरणें भली और बुरी वस्तुओं में जैसे समानरूप से पड़ती हैं वैसे ही समबुद्धि वाले पुरुष की दृष्टि में भेद का सदा अभाव रहता है, वह न किसी से घृणा करता है और न किसी में आसक्त होता।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।।१०।।

सखे ! जिसने शरीर और इन्द्रियों सहित मन पर विजय प्राप्त कर ली है, जिसकी विषय वासनायें समाप्त हो चुकी हैं, जो अपरिग्रही हो गया है, ऐसे योगी को चाहिये कि एकान्त स्थान में स्थित होकर चित्त को परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के ध्यान में लगाये क्योंकि वासना रहित चित्त की उपयोगिता परब्रह्म परमात्मा में तदाकार होने में ही है। यथा शुद्ध मणि की उपयोगिता तरुणी–तन या राजा के अलंकार बनकर उनके शरीर से संलग्न रहने ही में है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।।११।।

हे सखे ! अब मैं तुम्हें उपर्युक्त परमात्मा के ध्यान में निमग्न होने के लिये अष्टांग (राजयोग) के अनुसार यम नियमादि द्वारा आत्मजित होकर एकान्त में आसन लगाने के क्रम को कहता हूँ, समाहित चित्त से श्रवण करो। नदी का किनारा, वन, बगीचा, मन्दिर आदि स्थान भगवत ध्यान के लिये उपयुक्त हैं परन्तु यह देख लेना चाहिये कि ये स्थान भय, उद्वेग आदि उत्पन्न करने वाले तो नहीं हैं। वायु, वर्षा और ताप के आधिक्य से विघ्न प्रदायक तो नहीं है, मच्छर आदि कीड़ों से हीन हैं या नहीं, मनुष्यों एवं जंगली पशुओं के कोलाहल से युक्त तो नहीं हैं। सहज ही मन को प्रसन्न करने वाले पवित्र, विविक्त देश (भूमि) में बैठने के आसन को स्थिरतया स्थापन करे, आसन न बहुत ऊँचा हो और न नीचा ही क्योंकि दोनों ध्यान के बीच ही में विघ्न उत्पन्न करने की शंका से युक्त हैं। प्रथम कुशा पुनः कुश के ऊपर मृग चर्म और मृगछाल के ऊपर सूती वस्त्र बिछाकर ध्यान के लिये बैठने को उद्यत होना चाहिये।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।१२।।

बन्धु ! ऐसे बिछे हुये आसन् पर उचित दिशा को मुख करके साधक को सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन नाम के आसनों में अपने अनुकूल एक आसन चुनकर बैठ जाना चाहिये और चित्त की चंचलता तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करना चाहिये। प्रथम प्राणायाम के अभ्यास से जब प्राण सूक्ष्म हो जाता है तब मन की चंचलाहट दूर हो जाती है। प्राण और मन का सम्बन्ध है, मन के वश होने से प्राण स्वयं सूक्ष्म हो जाता है और प्राण के सूक्ष्म होने से मन मर जाता है अतएव उक्त अभ्यास से जितात्मा होकर ही ध्यान–योग में लगना सुकर होता है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।१३।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।१४।।

सखे ! ध्यान–योग में स्थित होने का प्रकार यह है कि साधक किसी उपयुक्त योगासन में काया, शिर और ग्रीवा को समान (मेरुदण्ड को सीधा) और इधर उधर न हिलाता हुआ अचल रखे तत्पश्चात स्थिरतया अपने नासिका के अग्रभाग में दृष्टि लगाकर अन्य ओर कदापि अवलोकन न करे और ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित वह साधक निर्भय तथा प्रशान्त अन्तःकरण पूर्वक बड़ी सावधानी से मन को वश में करके चित्त को मुझमें लगा दे और मेरे परायण होकर मेरे ही स्वरूप में स्थित हो जाय। चित्त जहाँ रहता है वहीं आत्मा रहती है अतएव यदि चित्त परमात्मा में स्थिर हो गया तो आत्मा को भी परमात्मा में लगा हुआ जानना चाहिये। जैसे किसी से बात करते हुये यदि चित्त दूसरी जगह चला जाता है तो जीव वहाँ रहते हुये भी वहाँ की बात सुनने में सक्षम नहीं होता क्योंकि वह चित्त के आकार का अर्थात चिद्रूप हो जाता है वैसे ही चित्त परमात्मा को जब अपना विषय बनाता है तब आत्मा भी चित्त के साथ परब्रह्म को विषय बनाकर तद्रूप बन जाता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाण परमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।१५।।

हे बन्धु ! उक्त प्रकार से जो साधक अपने आधीन मन वाला होकर आत्मा को पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान के ध्यान में निरन्तर लगाने के अभ्यास में लगा रहता है, वह योगी मुझमें स्थित परमानन्द स्वरूप पराकाष्ठा वाली परम शान्ति को प्राप्त करता है। नदियाँ जैसे समुद्र में मिलकर समुद्र ही में समा कर समुद्र ही बन जाती हैं वैसे ही साधक ध्यान योग के द्वारा परमात्मा में तदाकार होकर परमात्मा के समान ही परम शान्ति को प्राप्त होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।१६।।

परन्तु हे अर्जुन ! यह ध्यान रहे कि योग न बहुत खाने वाले को सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खाने वाले को, इसी प्रकार न बहुत सोने वाले को और न अत्यन्त जागने वाले को ही सिद्ध होता है। क्योंकि बहुत खाने और बहुत सोने से आलस्य तथा रोग होता है। इसी प्रकार न खाने और न सोने से शक्तिक्षय चित्त–विक्षेप आदि दोष हो जाते हैं जिससे योग में साधक असफल रहता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।१७।।

हे सखे ! सम्पूर्ण दुःखों का समूल विनाश करने वाला योग अवश्यमेव यथायोग्य आहार–विहार यथायोग्य कर्मों में चेष्टा और यथायोग्य शयन करने तथा यथायोग्य जागरण करने वालों को ही सिद्ध होता है, अर्थात जो न बहुत कम और न बहुत अधिक खाता है तथा न बहुत अधिक कार्यों में परिश्रमशील बना रहता है और न अत्यन्त कम कार्य करके आलसी व रोगी बना रहता, एवं न बहुत अधिक सोता है और न बहुत अधिक जागता है और न बहुत कम सोता है और न बहुत कम जागता है वही स्वस्थ चित्त साधक योग में सिद्धि लाभ करता है। किसी यन्त्र को काम में न लाने से तथा अतिवेग से काम में लाने से जैसे वह बेकार हो जाता है, कार्य करने की क्षमता उससे समाप्त हो जाती है वैसे ही योग सिद्धि के लिये युक्ताहार विहार इत्यादि बातें अति आवश्यक हैं।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।।१८।।

हे बन्धु ! जिस समय योग के अभ्यास से भली भाँति वश में किया

हुआ चित्त सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में सर्वभावेन स्थित होकर तदाकार हो जाता है, उस समय स्पृहा शून्य साधक को जगत में लोग योग युक्त ऐसा कहा करते हैं। जल जैसे दूध में सर्वभावेन मिलकर दूध के नाम से दूध की कीमत वाला हो जाता है वैसे ही उपर्युक्त वार्ता को तुम समझो।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।१६।।

हे भाई ! जैसे वायुरहित स्थान में रखा हुआ दीपक इधर-उधर चलायमान नहीं होता वैसे ही परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के ध्यान में निमग्न योगी के जीते हुये मन की स्थिति होती है, वह चंचलपन त्याग कर परब्रह्म परमात्मा में स्थिर हो जाता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योग सेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।२०।।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।२१।।

हे सखे ! जिस स्थिति में योगाभ्यास द्वारा निरुद्ध चित्त चंचलता को छोड़कर उपरामता को प्राप्त हो जाता है और जिस अवस्था में परमात्मा के ध्यान से सूक्ष्म हुई बुद्धि के दर्पण में परमात्मा के स्वरूप को स्वयं साधक देखता हुआ आनन्द कन्द पुरुषोत्तम भगवान में ही चरम तृप्ति को प्राप्त होता है तथा सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य इन्द्रियातीत अनन्त आनन्द की अनुभूति जिस अवस्था में करता है और जिस स्थिति में स्थित हुआ योगी भगवान के स्वरूप से चलायमान नहीं होता, तथा--

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितौ न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।२२।।

तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा ।।२३।।

जिस समय परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति रूप लाभ को प्राप्त कर उससे अधिक किसी अन्य लाभ को मन में नहीं स्वीकार करता जैसे उत्तम स्वाद संयुक्त दूध को प्राप्त कर बासी मट्ठे को लोग नहीं ग्रहण करते। अहो ! वह भगवत् प्राप्ति रूप लाभ कितना महान है कि उसको प्राप्त कर ऐसी स्थिति में साधक पहुँच जाता है कि जिस अवस्था में बड़े से बड़े क्लेश उसको परमात्म स्वरूप में संलग्नता से पृथक करने में समर्थ नहीं हो सकते। बन्धु ! देह में स्थित रहने पर ही शोक, मोह आदि अपना प्रभाव साधक पर जमा सकते हैं। विदेह हो जाने पर वहाँ उनकी पहुँच न होने से स्वयं लौटकर समाप्त हो जाते हैं वृष्टि के द्वारा बाहर रहने वाला ही गीला किया जा सकता है, घर के भीतर रहने वाले के अंग में एक बूँद का पड़ना भी असंभव है। अतएव जो दुःख स्वरूप संसार के संयोग से सर्वथा रहित है और परमात्मा के योग से युक्त है, ऐसे योग को जानना अति आवश्यक है, परन्तु वह योग प्रमाद और आलस्य को त्यागकर बिना उकताये हुये निरन्तर, सादर दीर्घकाल के अभ्यास से सिद्ध होता है, इसलिये तत्परता के साथ दृढ़ निश्चयी बनकर योगाभ्यास करना कल्याण कामी का कर्त्तव्य है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।।२४।।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपिचिन्तयेत् ।।२५।।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।२६।।

इसलिये हे सखे ! मन के संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण इच्छाओं को निःशेष कर देना चाहिये क्योंकि वासना ही बन्धन है और वासना हीन होना ही मुक्ति है ऐसा विचार कर पुरुष को अनासक्त मन से इन्द्रियों के समुदाय को सर्वथा वश में करके धीरे–धीरे क्रम से अभ्यास करते करते उपरामता को प्राप्त हो जाना चाहिये, तत्पश्चात धीरज धारण करके, बुद्धि द्वारा मन को परब्रह्म परमात्मा में स्थित करे और परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी चिन्तन न करे क्योंकि परमेश्वर के अतिरिक्त प्रकृति सम्बन्धी वस्तुओं का चिन्तन करने से आत्मा प्रकृति के रंग में रंगे हुये चित्त के साथ प्रकृति में ही विलीन रहेगा, ईश्वर में नहीं। इसलिये साधक को चाहिये कि एक स्थान पर स्थिर न रहने वाला चंचल मन जिस जिस कारण से भौतिक प्राणियों, पदार्थों, और परिस्थितियों में विचरण करता है, उस उससे रोक कर परमात्मा के ध्यान में उसी प्रकार केन्द्रित करे जैसे चरवाहा हरे खेत की ओर हरहाई गाय को बार–बार जाते देखकर उसे लौटाकर गोष्ठ में लाने का प्रयत्न करता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।२७।।

जिस योगी का मन भली भाँति शान्त हो गया है अर्थात प्राप्त विषयों की ओर से भी मुख मोड़ लिया है, जो सर्वथा पाप से अछूता हो गया है और जिसका रजो गुण शान्त हो गया है अर्थात जिसकी कर्म करने में आसक्ति नहीं रह गयी, भोगेच्छा समाप्त हो चुकी है, सुख की लिप्सा शून्य हो गयी है, उसको सर्वश्रेष्ठ आनन्द की अनुभूति होती है, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के साथ एकीभाव हुआ वह स्थित रहता है। बन्धु ! समुद्र में यदि नमक की एक डली छोड़ दी जाय तो वह भी समुद्र में समाकर समुद्र से अतिरिक्त अपना अस्तित्व नहीं रखती, ठीक इसी प्रकार आनन्दमय परब्रह्म में स्थित होकर पुरुष आनन्द स्वरूप बन जाता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।२८।।

हे सखे ! योगाभ्यास से सम्पूर्ण कल्मषों के नाश हो जाने पर निरन्तर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में अपनी आत्मा को लगाता हुआ योगी आनन्द पूर्वक परब्रह्म परमात्मा की सर्वभावेन प्राप्ति एवं संस्पर्श से आत्यान्तिक आनन्द की अनुभूति करता है। बन्धु ! परमेश्वर का प्रेमी अपनी प्रीति से अगोचर को गोचर कर लेता है और बाह्य तथा अन्तः इन्द्रियों का विषय बनाकर जिस आनन्द का अनुभव करता है वह अनिर्वचनीय है। संसार में छिटकी हुई शीतल चाँदनी के घनीभूत आह्लादकारी अमृतमय चन्द्र को प्राप्त कर जिस आनन्द की अनुभूति उसके दर्शन स्पर्शादि से होती होगी वह विलक्षण ही होगी।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।२९।।

हे सखे ! जो पुरुष योग युक्त है अर्थात सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्मा में जिसकी स्थिति एकीभाव से हो गयी है, वह आत्म साक्षात्कार करने वाला योगी अपनी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित उसी प्रकार देखता है, जैसे एक ही सूर्य को सम्पूर्ण जल के स्थलों में देखा जाता है और सम्पूर्ण भूतों को अपनी आत्मा में उसी प्रकार स्थित देखता है जैसे सम्पूर्ण जलाशयों में प्रतिबिम्ब रूपेण स्थित समस्त सूर्यों को गगन सूर्य के आधार ही स्थित देखता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।३०।।

हे बन्धु ! जो योगी सम्पूर्ण भूतों में एक मुझ सर्व व्यापक सर्वात्मा को स्थित उसी प्रकार देखता है जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुष सम्पूर्ण घटाकाशों

एवं मठाकाशों में एक महाकाश को ही देखता है और जो सम्पूर्ण भूत समुदाय को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत उसी प्रकार देखता है जैसे सम्पूर्ण घटाकाशों और मठाकाशों को बुद्धिमान पुरुष महाकाश के भीतर देखता है, उस योग युक्त पुरुष के सामने मैं सदा साक्षात रहता हूँ अर्थात अदृश्य नहीं रहता और वह मेरी आँखों से ओझल नहीं होता क्योंकि एकीभाव में स्थित होने से आत्मा और परमात्मा में अद्वैत सा हो जाता है जैसे नीर और क्षीर में देखा जाता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

हे सखे ! इस प्रकार से जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में अन्तर्यामी रूप से स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा को एकीभाव (अभेदभक्ति भाव) में स्थित होकर प्रेमपूर्वक भजता है वह योगी संसार में अर्थात् व्यवहार में सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मेरे ही में वर्तता है अर्थात् उसकी असमाधि भी समाधि ही है क्योंकि उसके ज्ञान में मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। जैसे जागते हुये भी चित्त को निद्रा की वृत्ति में स्थित कर देने वाला अभ्यासी जागता हुआ भी संसार में सो ही रहा है, वैसे ही व्यवहार करता हुआ योगी भी अपने चित्त को परमात्मा में स्थित रखने के कारण परमात्मा ही में स्थित रहता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ।।३२।।

जो अपने सादृश्यता के समान सम्पूर्ण भूतों में समदृष्टि रखता है अर्थात जैसे अपने शिर हाथ पैर और गुदादि अंगों में पृथकता होते हुये भी अंगी सबके प्रति ममत्व और मोह रखता है प्रत्येक अंगों के दुःख से दुःखी होता है ऊँच नीच का विचार स्वप्न में न लाकर औषधादि उपचारों द्वारा रोगी

अंग को स्वस्थ बनाने की चेष्टा करता है वैसे ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र और वर्णाश्रम में अपनापन होने से सबके सुख और दुःख से सुखी दुःखी होता है, वही अपने जैसा सबमें सुख दुःख का दर्शन करने वाला पुरुष सर्वश्रेष्ठ योगी है। जब अपने को सबमें और सबको अपने में देखने का अभ्यास और ज्ञान हो जाता है तो उपर्युक्त दशा सहज हो जाती है अर्थात एकता से समता का आना स्वाभाविक और सरल हो जाता है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि, चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।।३३।।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।३४।।

उक्त प्रकार भगवान आनन्द कन्द श्री कृष्ण जी महाराज के वचनों को श्रवण कर श्री अर्जुन बोले, हे मधुसूदन ! जो यह ध्यान योग आपने मुझसे समत्व बुद्धि के साथ सेवन करने योग्य बतलाया है वह मन की चंचलता से कैसे संभव हो सकता है क्योंकि इस मन के चांचल्य से बहुत समय तक स्थिर रहने वाली स्थिति का दर्शन मुझे इसमें नहीं हो रहा है। भगवन् ! हवा के झोकों से आन्दोलित जल में अपने मुख के प्रतिबिम्ब को देखकर उसमें मग्न हो जाना बड़ा ही कठिन प्रतीत हो रहा है क्योंकि यह मन बड़ा ही चंचल और प्रमथन स्वभाव वाला है साथ ही बड़ा दृढ़ अर्थात जहाँ लगता है, दृढ़ता पूर्वक लगता है और बड़ा बलवान है, सारी इंद्रियों को अपनी ओर घसीट ले जाता है, इसलिए ऐसे मन को वश में करना मैं वायु के समान अति दुष्कर मानता हूँ, अर्थात जैसे वायु को स्थिर रखना असाध्य है, उसी प्रकार मन का चंचलपन रोक देना असंभव समझता हूँ मैं।

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।३५।।

अर्जुन के असंशयात्मक वचनों को श्रवण कर भगवान बोले सखे ! निःसंदेह आपके कथनानुसार मन अत्यन्त चंचल और कठिन परिश्रम से अपने आधीन होने वाला है, साधन संपन्न व्यक्तियों को भी उसी प्रकार चंचल बना देने वाला है जैसे दीपक को वायु, परन्तु हे कुन्ती सुवन ! ध्येय में स्थित होने के लिये बारम्बार प्रयत्न करने से और विषयों से विरक्ति हो जाने पर इस मन को अवश्यमेव वश में किया जा सकता है। बन्धु ! जल अधोगामी स्वभावतः है परन्तु यंत्र के द्वारा उसे ऊँचे की ओर ले जाया जा सकता है, ऐसे ही मन के विषय में समझो।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।३६।।

हे सखे ! असंयमित बिना वश में किये हुये मन वाले पुरुष को योग की स्थिति प्राप्त होना अतिदुर्लभ है क्योंकि किसी एक देश में केन्द्रित होना चंचल चित्त के सामर्थ्य से बाहर है और अपने आधीन अचंचल मन वाले प्रयत्नशील साधक को साधन करने से योग की प्राप्ति सहज है, यह मेरा मत है। बन्धु ! गन्तव्य स्थान को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाने वाले पुरुष सहज ही अन्य मार्गों की ओर न चलकर, सुख पूर्वक पहुँच जाते हैं, परन्तु लक्ष्य की केवल कल्पना कर अन्य अन्य ओर मार्ग छोड़कर चलने वाले भटक ही जाते हैं, यही वार्ता परमार्थ पथ के पथिकों के लिये भी लागू है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।३७।।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।।३८।।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्य शेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।३९।।

उक्त प्रकार भगवान के वचन श्रवण कर अर्जुन बोले, हे कृष्ण ! यदि साधक श्रद्धालु हो, परमात्मा साक्षात् करने की अभिरुचि वाला हो और प्रयत्नशील भी हो किन्तु प्रकृति परवश होकर यदि उसका मन योग से विचलित हो गया हो जिससे परमात्मा के साक्षात्कार से वंचित रह गया हो तो वह किस गति को प्राप्त होता है ? हे महाबाहो ! मुझे बड़ा संशय है परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति के मार्ग में मोहित होकर वह बेचारा आश्रयहीन पुरुष छिन्न–भिन्न बादल की भाँति स्वार्थ–परमार्थ अर्थात् लोक–परलोक से भ्रष्ट होकर कहीं नष्ट तो नहीं हो जाता। हाय ! यह संशय का सिंह मेरे हृदय को विदीर्ण कर रहा है, अस्तु हे सर्व संशयों को समूल नाश करने वाले कृष्ण ! एक आपही इस संदेह को नष्ट करने वाले हैं, आपके अतिरिक्त इस संशय का शमन करने वाला कोई नहीं है जैसे रात्रि को दूर करने वाले एक सूर्य ही होते हैं, अन्य नहीं।

श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।।४०।।

श्री अर्जुन के संशय सम्पन्न वचनों को श्रवण कर भगवान बोले हे प्यारे पार्थ ! भगवत् प्राप्ति के साधन में लगे हुये पुरुष का न तो इस लोक में न परलोक में कुछ बिगड़ता अर्थात् वह छिन्न–भिन्न बादलों की तरह नष्ट नहीं होता क्योंकि भगवदर्थ निष्काम कर्म करने वाला दुर्गति को नहीं प्राप्त होता जैसे समुद्राभिमुख गामिनी नदी की धार से कोई पृथक धारा संयोगवश प्रधान पथ से अलग होकर भी अन्त में समुद्र ही में मिलती है इसी प्रकार

योग पथ भ्रष्ट पुरुष के विषय में भी तुम्हें जानना चाहिये।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।४१।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।४२।।

हे सखे ! योगभ्रष्ट पुरुष पुण्य करने वालों से प्राप्त होने योग्य स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त कर बहुत वर्षों तक वहाँ सुख भोगता हुआ वास करता है तत्पश्चात् मन, वचन, और कर्म से परम पवित्र श्रीमान् पुरुषों के गृह में जन्म लेता है, अथवा विलक्षण बुद्धि वाले योगियों के ही कुल में जन्म धारण करता है। बन्धु ! उक्त प्रकार का जन्म संसार में निःसंदेह अति दुर्लभ है, अतएव ऐसा जन्म प्राप्त कर उस योग भ्रष्ट का यह लोक नष्ट नहीं होता जैसे बीज पृथ्वी में बो देने पर देखने में तो समाप्त सा लगता है किन्तु वह वृक्ष रूप धारण कर पत्र–पुष्प और फलादि से श्री सम्पन्न होकर दूसरों के नेत्रों को सुखावह प्रतीत होता है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।४३।।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ।।४४।।

हे सखे ! उपर्युक्त सुन्दर एवं दुर्लभ जन्म को धारण कर वह योग भ्रष्ट पुरुष पहले शरीर में किये हुये साधन के अनुसार समत्व बुद्धि योग के संस्कारों से सहज ही सम्पन्न हो जाता है और उसके प्रभाव से पुनः भगवदर्थ निष्काम कर्म करता हुआ परमात्म प्राप्ति के लिये सर्वभावेन प्रयत्नशील बन जाता है–जैसे बाल्यावस्था के देखे हुये प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियाँ वृद्धावस्था में भी किसी कारण को प्राप्त कर चित्त पटल पर स्मृति के रूप

में आ जाते हैं वैसे ही पूर्व जन्म के संस्कार किसी निमित्त को प्राप्त कर जीव के चर्या एवं स्वभाव में उतर आते हैं, ठीक इसी प्रकार योग भ्रष्ट पुरुष भी अपने पूर्व जन्म के अभ्यास के अनुसार वर्तमान शरीर में भी अनायास ही उसी अभ्यास में लग जाता है और विषयों के वशीभूत होकर भी पूर्वाभ्यास के कारण निःसंदेह किसी अदृष्ट शक्ति के द्वारा प्रभु–प्राप्ति की ओर आकर्षित किया जाता है। अतएव तुम्हें यह ज्ञान हृदय में धारण कर लेना चाहिये कि समत्व बुद्धि रूप योग के द्वारा भगवत् प्राप्ति का जिज्ञासु वेद वर्णित सकाम कर्मों के फल को उलंघन करके अवश्यमेव परमात्म प्राप्ति करता है, इसलिये योग भ्रष्ट का परमार्थ भी नहीं बिगड़ता।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

हे सखे ! अभ्यास परायण योगी अपने प्रबल प्रयत्न से अपहत्पाप्मा अर्थात् सर्वभावेन सम्यक्तया परमशुद्ध हो जाता है और अनेक जन्म से अन्तःकरण की बुद्धि रूप सिद्धि को प्राप्त हुआ परमात्म–प्राप्ति रूप परम गति को प्राप्त होता है। किसी तीर्थ स्थान में पहुँचने का लक्ष्य लेकर अनेक दिन चलने वाले लोग एक दिन गन्तव्य स्थान को प्राप्त ही कर लेते हैं उसी प्रकार मन्द वेग से चलने वाले योगी भी अनेक जन्म में परमात्म साक्षात्कार कर ही लेते हैं, हाँ तीव्र संवेग वाले योगी जिनके अन्तःकरण सहज शुद्ध हैं वे एक ही जन्म में प्रभु प्राप्ति कर लें तो आश्चर्य ही क्या है ?

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

बन्धु ! उपर्युक्त योग बहुत ही उत्तम योग है क्योंकि इस योग का साधन करने वाले योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ हैं और केवल शास्त्र के ज्ञान रखने वालों से भी श्रेष्ठ माने गये हैं तथा सकाम कर्म करने वालों से भी अति

श्रेष्ठ हैं इसलिये हे अर्जुन! तुम भी योगी बनो, ऐसी मेरे हृदय की अभिलाषा है जो तुमसे व्यक्त कर रहा हूँ। भाई ! जिसे चाह है वह राजा होते हुये भी भिखारी है और जो बिना चाह का हो गया है, वह गरीब होते हुये भी शाहंशाह है। उसका सुख कामना के शिकार बने हुये मनुष्यों द्वारा नहीं समझा जाता है अतएव भगवदर्थ कर्म करने वाले समत्व बुद्धि योगापन्न पुरुष अति श्रेष्ठ हैं।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

हे सखे ! योगी के भी कई भेद होते हैं, जैसे कर्म योगी, अष्टांग योगी, साँख्य योगी आदि, परन्तु सम्पूर्ण योगियों में भी वह योगी अत्यन्त श्रेष्ठ है जो बड़ी श्रद्धा से मेरे आश्रयण को ग्रहण किये हुये मेरे परायण बना रहता है और अन्तरात्मा से प्रेम पूर्वक आसक्त मना होकर मेरा निरन्तर भजन करता है। अतएव उस योगी को मैं सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। भाई ! दृप्त और आर्त में आर्ताधिकारी मेरी ही दृष्टि से नहीं अपितु सबकी दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ होता है। श्रुतियों और शास्त्रों में भी उसे पूर्ण सम्मान प्राप्त है।

तात्पयार्थ

इन्द्रिय निग्रह और मनोनिग्रह के द्वारा समत्व बुद्धि योग के साथ योगाभ्यास करता हुआ पुरुष, परमात्मा का साक्षात्कार करके परम शान्ति स्वरूप आत्यान्तिक आनन्द की अनुभूति करे। मन की चंचलता विचार कर निरुपाय और निरुत्साही न बने। अभ्यास और विषयों की वितृष्णता से मन एकाग्र हो जाता है अतः शनैः शनैः अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति अनिवार्य रूप से करना परमावश्यक है। परमात्म बोध होने पर भगवत प्रेम में सराबोर होकर प्रभु के नाम, रूप, लीला, धाम में आसक्त मना बना रहे और निरन्तर भजन करते हुये पुरुष कालक्षेप करे। छठे अध्याय में कथित भगवान का यही सारतम संदेश है।

सप्तम-अध्याय

श्री भगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

प्रत्येक अध्यायों के अन्तिम श्लोक का उसके आगे वाले अध्याय के प्रथम श्लोक के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, तद्नुसार भगवान उपर्युक्त छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक के अर्थ को सातवें अध्याय के प्रारम्भ में सम्बन्ध जोड़ते हुये अधिक स्पष्ट करते हैं। हे सखे! अन्तरात्मा से श्रद्धा युक्त भजन करने वाला मेरा भक्त सम्पूर्ण योगियों में श्रेष्ठ तो है ही, अतएव उसकी जानकारी के सम्बन्ध में तुम्हें और बातें बताता हूँ, श्रवण करो। वह योगिवर्य मेरा भजन करने वाला अनन्य प्रेमी भक्त जैसा होता है वैसे तुम भी अनन्य भाव से मेरा भजन करो। मेरे आश्रय में रहकर अर्थात् आर्ति पूर्ण प्रपत्ति ग्रहण कर तदनुसार शरणागति धर्म को परम विशुद्धता के साथ निर्वाह करते हुये मेरे में आसक्त मन वाले बने रहो। मेरे नाम, रूप, लीला, धाम में इतनी आसक्ति हो जाये कि उनके क्षणमात्र के विस्मरण से तुमको परम व्याकुलता का अनुभव होने लगे और अखिल आचरित कर्मों को मेरे लिये ही करो अर्थात् मेरी प्रसन्नता के लिये मेरे अनुकूल आचरण को करो, अपने लिये नहीं। इस प्रकार की रहनि को अपना कर अनन्य प्रपत्ति योग एवं प्रेमयोग का अभ्यास करते हुये तुम मुझे निःसंदेह समग्रतया प्राप्त कर लोगे और मैं जैसा जो हूँ उसका ज्ञान पूर्णरूपेण तुम्हें हो जायगा। अब जैसे तुम मुझे सर्वान्तरात्मा रूपेण समझोगे वैसे ही मैं अपनी विभूति बल ऐश्वर्य आदि का कथन करता हूँ सुनो।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

हे सखे ! हम तुम्हारे लिये इस रहस्यात्मक तत्व ज्ञान का सर्वभावेन सम्पूर्णता से वर्णन करेंगे जिसे जानकर अन्य जानने योग्य कोई तत्व शेष नहीं रहता है, जैसे दुग्ध का ज्ञान कर लेने से उससे बने हुये पदार्थों का ज्ञान शेष नहीं रहता है अर्थात् कारण का ज्ञान हो जाने से कार्य का ज्ञान स्वयं हो जाता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

बन्धु ! इस योग का आश्रय ग्रहण कर कोई भी मुझे सम्पूर्णतया प्राप्त कर सकता है। परन्तु हजारों मनुष्यों में कोई एक ही मेरी प्राप्ति के लिये साधन पथ में उतरता है और उन प्रयत्नशील साधकों में भी कोई ही योगी पुरुष मेरे को अनन्य भाव से भजता हुआ मुझको तत्वतः जान पाता है। जब लोक में एक साधारण नट की नट विद्या को नट सेवक के अतिरिक्त कोई नहीं समझ पाता तब मुझ महायोगेश्वर के यथार्थ स्वरूप एवम् मर्म को बिना मेरा अनन्य सेवक बने कौन जान सकता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

हे सखे ! अब मैं तुम्हें यह बताना चाहता हूँ कि एक पाद विभूति अर्थात् चौदह भुवनों के अन्तर्गत अनेक भेद से जो जड़चेतनात्मक सृष्टिमयी लीला दृष्टिगोचर हो रही है वह कैसे होती है ? किससे होती है ? किसमें रहती है ? और किसमें विलीन होती है ? भली भाँति श्रवण करो। पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश तथा मन–बुद्धि और अहंकार सहित आठ भागों में विभक्ति हुई मेरी प्रकृति है, जिसे अपरा कहा जाता है यह जड़ात्मिका

है और इससे परे जीव रूपा मेरी परा प्रकृति है जो चेतनात्मिका है और इसी परा प्रकृति से यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है अर्थात् चौबीस तत्व जो जड़ात्मक हैं उनसे शरीर संघात की रचना होती है जिसे संसार कहते हैं और उसे प्रकाशित एवं क्रियाशील बनाने के लिये जीव प्रकृति का समावेश होता है, अतएव यह संसार अपरा और पराप्रकृति का ही परिणाम है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

बन्धु ! सम्पूर्ण प्राणी समुदाय इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होते हैं और मैं सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति और प्रलय का मूल कारण हूँ, यह वार्ता तुम भली भाँति समझकर हृदय में धारण कर लो। मेरे से ही सब सृष्टि उत्पन्न होती है, मेरे ही में उसकी स्थिति है और मेरे ही में वह उसी प्रकार लीन होती है, जैसे लहरें समुद्र से ही उत्पन्न होती हैं, समुद्र ही में उनकी स्थिति दिखाई देती है और समुद्र ही में समा जाती हैं। अस्तु, मुझ मूल कारण में ही जगत के प्रभव और प्रलय रूप कार्य की क्रिया को देखो।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणाइव।।७।।

हे सखे ! यह वार्ता समझ गये होगे तुम कि मुझ परब्रह्म परमात्मा से अतिरिक्त किचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु उसी प्रकार नहीं है जैसे स्वर्ण के अनेक आभूषणों में एक सोना ही प्रतिष्ठित है अन्य कुछ नहीं जैसे सूत्र में सूत्र की मणियाँ पिरोई रहती हैं, हैं सब सूत्र ही, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत मेरे आधार पर ही स्थित है और मैं ही सबके बाहर भीतर स्थित हूँ, अतएव इस जगत स्वरूप में मैं ही परिलक्षित हो रहा हूँ, यह ज्ञान

तुम्हें हृदय में सदा के लिये धारण कर लेना चाहिये।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

हे कुन्ती पुत्र! जल में मैं रस हूँ, चन्द्र और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ तथा आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। अब यह समझो कि रस, प्रकाश, ओंकार शब्द और पुरुषत्व ही क्रमशः जल, चन्द्र, सूर्य, वेद, आकाश और पुरुष के कारण हैं, कारण के बिना कार्य नहीं होता, इसलिये जब मैं रस, प्रकाश, ओंकार, शब्द और पुरुषत्व हूँ तो इनके कार्य स्वरूप जल, चन्द्र, सूर्य, वेद, आकाश और पुरुष भी मैं ही हूँ क्योंकि कारण ही कार्य में स्थित रहता है जैसे वस्त्र में रुई, इसी प्रकार आगे कही जाने वाली मेरी विभूतियों का आशय भी समझना, मेरे से अतिरिक्त दूसरी नाम की किंचित वस्तु का सदा अभाव है, इस ज्ञान को कभी हृदय से न हटाना।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।६।।

हे सखे! पृथ्वी में पवित्र गन्ध, अग्नि में तेज और सम्पूर्ण प्राणियों में उनका जीवन हूँ अर्थात् जीव स्वरूप हूँ और तपस्वियों में तप हूँ। पवित्र पंचतन्मात्रा जब मैं हूँ तब पंचतत्व भी मैं ही हूँ और जब पंच तत्व हूँ तब सारे भूत समुदाय में मैं ही हूँ तथा जब जीवनी शक्ति भी मैं ही हूँ, तो मैं क्या नहीं हूँ? अर्थात् मैं ही मैं हूँ, अन्य कुछ नहीं है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

हे पार्थ ! तुम मुझे सम्पूर्ण भूतों का सनातन अर्थात् सदा एक रस रहने वाला अविनाशी बीज समझो। जगत का मूल कारण एक मैं ही हूँ, तथा बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं ही हूँ। हे भरत श्रेष्ठ ! आसक्ति और इच्छाहीन बल वालों का बल और सम्पूर्ण भूतों में शास्त्र सम्मत धर्म के अनुकूल काम मैं ही हूँ। अब यह वार्ता सहज ही में समझ गये होगे कि मेरी ही शक्ति से सामर्थ्यवान् और शुभ स्वरूपा मेरी कामना से ही लोग धर्म में सुन्दर रुचि रखने वाले दिखाई देते हैं।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

बन्धु कहाँ तक कहूँ, जो भी सत्व गुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं और जो रजोगुण तथा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, उन सबको तुम मुझ से ही होने वाले समझो, अर्थात् उन सबका कारण मैं ही हूँ, परन्तु वास्तव में उनमें मैं और वे सब मेरे में स्थित नहीं हैं जैसे सूक्ष्म होने के कारण आकाश, आकाश में रहने वाले पदार्थों में नहीं है वह स्वयं में स्थित है और न वे पदार्थ आकाश में है, यह वार्ता ध्यान पूर्वक विचार करने से सहज ही समझ में आ जाती है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

हे सखे ! सत, रज, तम, ये तीनों गुणों के प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह नामक तीन भावों से उत्पन्न अहंकार, ममकार राग, द्वेष, वासना आदि विषय विकारों से यह सब संसार मोहित हो रहा है, अतएव उसकी बुद्धि केवल भौतिक ज्ञान में ही आबद्ध रहती है और मुझ प्रकृति पार अविनाशी परब्रह्म परमात्मा को जानने में समर्थ नहीं होती, जैसे मदारी के खेल में आसक्त पुरुष खेल के अतिरिक्त उसके स्वरूप को नहीं समझ पाते वे तो मदारी की कला के भावानुसार दिखाये गये दृश्यों को ही सत्य समझकर देखते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

सखे ! माया का कार्य है जीव से मेरे स्वरूप को तिरोहित किये रहना और वह इसलिये कि संसार के रंगमच पर मेरा खेल चलता ही रहे, अगर लोग बिना कुछ किये मुझे पहिचान जायँ तो खेल ही बन्द हो जाय और खेल में आनन्द भी दृष्टा को न आये। अस्तु यह त्रिगुणात्मिका मेरी माया बड़ी दुरत्यय अर्थात् दुस्तर है। देव, ऋषि, मुनि, पितर, गंधर्व, मानव, दानव, पशु, पक्षी आदि सभी जीव इसके चंगुल में बिना फँसे नहीं रहे परन्तु जो मेरे शरण में रहकर मेरा प्रेम पूर्वक निष्काम भजन करते हैं वे इस माया से पार हो जाते है क्योंकि मेरी कृपा उन पर देखकर माया अपना प्रभाव उन पर नहीं जमा सकती, भक्त मेरे भवन ही नहीं मेरे स्वरूप बन जाते हैं, अस्तु वे मेरे समान ही माया से परे हो जाते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

बन्धु ! आश्चर्य ! महाआश्चर्य। माया से पार होने का इतना सहज और सरल उपाय होने पर भी, अविद्या माया से हरे गये ज्ञान वाले अर्थात अज्ञानी जो दैवी भाव त्याग कर सदा आसुरी भाव के ही क्रीत दास हो गये हैं जिनमें मानवता का नाम नहीं है, जो अकृत करण, भगवत् अपचार भागवतापचार और असह्यापचार ही करने के स्वभाव वाले बन गये हैं, ऐसे मूढ़ नराधम मेरे आश्रय को ग्रहण नहीं करते और न मेरा भजन करते वे तो मुझसे द्वेष करने ही में तुले रहते हैं ज्वर के संवेग से जो मनमानी प्रलाप करने वाले पुरुष हैं उन्हें जैसे भोजन करने की रुचि नहीं होती वैसे ही पापपोषकों को मेरा नाम लेना अच्छा नहीं लगता।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

हे भरतर्षभ ! मेरा भजन तो कोई उदार आशय वाले बड़भागी पुण्यस्वरूप पुरुष ही कर पाते हैं क्योंकि बिना सुकृति की अग्नि के, पापों का तृण समूह जलता ही नहीं अतएव क्षीण पाप वाले ही मेरे भजन के अधिकारी हैं। वे चार प्रकार के होते हैं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी किसी प्रकार के कुसंकट का अनुभव कर आर्तिपूर्ण प्रपत्तिकर भजन करने वाले आर्त कहलाते हैं, रहस्यमय गूढ़ ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा से भजन करने वाले जिज्ञासु कहलाते हैं। किसी अर्थ अर्थात् अणिमादिक सिद्धि या सम्पत्ति की कामना से भजन करने वाले अर्थार्थी कहलाते हैं और भगवद् ज्ञान–प्राप्ति, भगवत् प्राप्ति, भगवत्–प्रेमप्राप्ति भगवत्–कैंकर्य प्राप्ति करने के लिये जो भजन करते हैं वे ज्ञानी कहलाते हैं क्योंकि उनका प्रयोजन सर्वथा आत्मानुरूप अप्राकृत होता है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

हे सखे ! उक्त चारों भक्तों में भी नित्य मेरे में युक्त अर्थात् परायण रहकर अनन्य प्रयोजन एवं अनन्य प्रेमाभक्ति के द्वारा मेरा भजन करने वाला ज्ञानी भक्त अति श्रेष्ठ है क्योंकि तत्वतः मुझे जानकर वह मुझे अपना अतिप्रिय मानता है और मुझे भी वह अत्यन्त प्रिय है। जैसे सत् स्त्री अपने पति के अतिरिक्त अन्य को नहीं जानती और तदनुसार पति प्रेम परायणा सद्स्त्री के आधीन सत् पति भी बना रहता है तथा अपना प्रेम प्रदान करने का एकमात्र पात्र अपनी सत् पत्नी को समझता है, ठीक उसी प्रकार मेरा और मेरे भक्तों का परस्पर प्रेम सम्बन्ध है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

बन्धु ! उक्त चारों प्रकार के भक्त उदार आशय वाले हैं क्योंकि स्वार्थ परमार्थ की प्राप्ति एवं परम परमार्थ की प्राप्ति के लिये एक मुझको ही

उपाय रूप से वे लोग वरण किये हैं तथा मेरे ही में मन–बुद्धि समर्पण कर मेरा अव्यावृत भजन करते हैं, परन्तु ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह प्रेमाद्वैत की स्थिति में मेरे ही में एकीभाव से स्थित रहता है। अत्यन्त उत्तमगति की पराकाष्ठा स्वरूप में स्थित होने से मेरे में और मेरे भक्त में भेद का अभाव हो जाता है। जहाँ चित्त का लय होता है वहाँ ही आत्मा की भी स्थिति हो जाती है अतएव जब भक्त की अहं हीन आत्मा मुझमें स्थिति हो गयी तो मेरे में और उसमें उसी प्रकार भेद नहीं रह जाता जैसे घट के फूट जाने से घटाकाश महाकाश ही हो जाता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१६।।

हे सखे! हजारों जन्मों के तप, ध्यान, समाधि आदि साधनों के द्वारा क्षीण कल्मष हो जाने के अन्त में तत्वतः मुझको जान लेने वाला साधक ही मेरा आश्रय ग्रहण कर अनन्य प्रेम योग द्वारा मेरा भजन कर पाता है और मुझ वासुदेव के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं ऐसा ज्ञान उसकी बुद्धि में स्थिर हो पाता है। यदि ऐसी स्थिति आ गई तो फिर कहना ही क्या है, वह मैं ही हूँ, मुझमें और उसमें कुछ भी भेद नहीं रह जाता किन्तु इस भूमिका में पहुँचा हुआ महात्मा अति दुर्लभ है अर्थात् कहीं कोई बिरला ही होता है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

हे बन्धु! विषय वासना की प्रबलता से ज्ञान भ्रष्ट विषयी पुरुष अपने स्वभाव से प्रेरित होकर कामना के अनुसार जिस देवता के भजन में जो नियम चाहिये उस नियम को लेकर अन्य देवाराधान करते हैं अतएव उन काम के चेरों की बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। कहीं विधि गड़बड़ हो

गयी तो उल्टा फल ही हाथ लगता है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।२२।।

सखे! ज्ञानी भक्त के विषय की वार्ता प्रथम कहकर सकामी भक्तों के विषय में और जो कहता हूँ सुनो। जो जो सकाम भावना से भावित भक्त जिस जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा पूर्वक पूजना चाहता है, उस उस भक्त की मैं उस उस देवता के प्रति श्रद्धा को बढ़ाकर उसे स्थिर करता हूँ जिससे वह सकामी भक्त मेरी स्थिर की हुई श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता के आराधन में संलग्न होता है और उसकी पूजा से प्रसन्न हुआ वह देवता मेरे द्वारा विधान किये हुये इच्छित फलों को निःसंदेह प्रदान करता है। सरल अर्थ में तुम यह समझ लो कि मैं ही किसी देव भक्त के हृदय को जानकर आराध्य के प्रति उसकी श्रद्धा बढ़ाता हूँ और मैं ही उसकी साधना और इच्छा के अनुसार उसके इष्ट देव के हृदय में शक्ति और प्रेरणा प्रदान करता हूँ जिससे वे अपने भक्त को मेरे द्वारा विहित किये हुये फलों को प्रदान करते हैं। अतएव जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे मुझे सर्वश्रेष्ठ सबका मूल कारण एवं सर्व समर्थ समझकर मेरा ही भजन करते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

हे सखे! सर्व समर्थ की शरण मे न जाकर स्वार्थ परायण शक्ति वाले की शरण मे रहकर कामना की पूर्ति करने वाले अल्प बुद्धि के पुरुषों का वह फल नाशवान होता है, क्योंकि विनाशंशील का दिया हुआ सब कुछ विनाशवान् ही होगा और अविनाशी का दिया हुआ सब फल अविनाशी

ही होता है। एक बात और भी है, वह यह कि देवताओं के पूजक देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे आश्रयी भक्त चाहे जैसे भी सकाम या निष्काम भजें अन्त में वे मुझे ही प्राप्त होते हैं। बच्चा भूख की पूर्ति के लिये माँ के पास चाहे भोजन माँगने जाय या सेवा करने के लिये जाय और जिस प्रकार से जाय परन्तु जायगा माता के ही पास, तथा माता दोनों दशा में अपने मातृत्व को प्रकट करती हुई प्यार करेगी। हाँ यह बात अवश्य है कि माँ यह चाहती है कि पुत्र कब स्वार्थ हीन सेवा परायण बनेगा, अन्त में माँ का सत् संकल्प अवश्य सिद्ध होता है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

बन्धु! माया की कितनी प्रबलता है, अहो! सबका सुहृद, आत्मा शरण, सुखदायक एवं स्वसर्वस्व समर्पण करने वाला होते हुये भी पुरुष मेरा भजन नहीं करते, इसका कारण यह है कि बुद्धिहीन पुरुष मुझ अविनाशी अगोचर अर्थात् अप्रकट परमतत्व को यह नहीं जानते कि ये परमेश्वर अपनी योगमाया से संसार का सर्वकल्याण करने के लिये प्रकट हुये हैं, उल्टे वे मुझे मनुष्य की भाँति माता के उदर से जन्म लिये हुये व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं। मेरे सर्वोत्तम सच्चिदानन्दात्मक परात्पर भाव का ज्ञान उनके मलीन बुद्धि के दर्पण में पड़ता ही नहीं। भला बताओ कि नेत्र में धुन्ध छा जाने पर कोई समल दर्पण लेकर अपना या दूसरे का मुख देखे तो उसको क्या दिखलाई देगा ?

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

सखे! मैं अपनी रहस्यमयी वार्ता तुमसे खोले दे रहा हूँ, वह यह कि मैं अपनी योग माया से अपने को आवृत किये रहता हूँ जैसे कोई नट सिंह का खोल ढाँक कर लोगों से अपने को छिपा लेता है वैसे ही मैं अपने

को छिपाये रहता हूँ, इसलिये माया से मोहित हुये मनुष्य मुझ अजन्मा अविनाशी परब्रह्म परमात्मा को तत्वतः नहीं जानते अर्थात् मेरे स्वरूप के ज्ञान से वे वंचित रहते हैं और मुझको लोक की तरह जन्मने और मरने वाला समझते हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

हे बन्धु अर्जुन! लोक भले ही मुझे नहीं जान पाता परन्तु मैं भूतकाल मे जो हो गये हैं, वर्तमान में जो हैं और भविष्य में जो होने वाले हैं उन सम्पूर्ण भूतों के सर्व प्रकार के ज्ञान को एक साथ बिना ध्यान लगाये हुये जानता हूँ। अहो ! मेरी माया की प्रबलता को तो देखो कि सबके बाहर भीतर रहने वाले सदा के साथी मुझको कोई नहीं जानता, जब यह अज्ञानी जीव अपने को ही नहीं जानता तो मुझको जानने में कैसे समर्थ हो सकता है। अरे ! अन्धा जब अपनी देह को ही नहीं देख पाता तो दूसरे दृश्य को कैसे देख सके।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।।२७।।

हे भारत ! राग और द्वेष से उत्पन्न होने वाले सुख दुःखादि द्वन्द्वों के मोह से संसार में सम्पूर्ण प्राणी संमोह को प्राप्त हो रहे हैं जिससे स्वस्वरूप और परस्वरूप का ज्ञान समाप्त हो चुका है। जैसे मद्य पानकर मदक्की गन्दी नाली में गिर कर भी जय गंगे कहता है, अहो ! कितना सुन्दर स्वाद युक्त जल है, उसे न अपनी स्मृति है, न अपने गृह की और न यह ही जानता कि मैं गन्दी नाली का कीड़ा बना हुआ हूँ।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

हे सखे ! जो मनुष्य पुण्यकर्मा हैं जिनके पापों की परिसमाप्ति हो गई है अर्थात् क्षीण कल्मष हो गये हैं वही द्वन्द्वों के मोह से विनिर्मुक्त होकर दृढ़ व्रत के साथ सर्व भावेन मेरा भजन करते हैं, जैसे रात्रि के अन्त हो जाने के पश्चात् सूर्योदय हो जाने पर ही लोग सूर्य की सकासता से होने वाले कार्यों को करते हैं, वैसे ही अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर ज्ञान के प्रकाश से ही भगवत् भजन करते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चालिखलम।।२६।।

हे सखे ! जो पुरुष मेरे शरण में रहकर जरा–मरण की निवृत्ति के लिये मेरा भजन रूप प्रयत्न करते हैं वे पुरुष ब्रह्मविद वरिष्ठ होकर ब्रह्म को, अखिल अध्यात्म विषयक ज्ञान को और भली भाँति सम्पूर्ण कर्मों के रहस्य को जानते हैं, अर्थात् मेरे शरणागत चेतन को मेरी कृपा से कुछ जानना और कुछ पाना उसी प्रकार शेष नहीं रहता जैसे मशाल हाथ में लेकर अँधेरे गृह में रखी हुई वस्तुओं को जानने और पाने में कुछ शेष नहीं रहता।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्त चेतसः।।३०।।

हे बन्धु ! जो पुरुष, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित सबका अन्तर्यामी आत्मा मुझ वासुदेव को जानता है, वह युक्त चित्त वाला पुरुष प्राण–प्रयाण में भी मुझे ही जानता है अर्थात् मृत्यु समय में उसका चित्त मेरे ही में लय रहता है, इससे मेरे को ही प्राप्त होता है। बन्धु ! रुई, पोनी, सूत, वस्त्र ये तीनों विचार करने पर जैसे रुई ही है वैसे ही कारण स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही सर्वत्र प्रतिष्ठित है।

तात्पयार्थ

सर्व समर्पण करके आसक्त मन से प्रभु का भजन करना एवं उनके आश्रय को ग्रहण किये रहना ही जीव का परम पुरुषार्थ है, जीव को संसार चक्र में घुमाने वाली माया बड़ी प्रबला एवं दुस्तर है। सर्वलोक शारण्य परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के शरण में रहकर उनका भजन करने से ही मनुष्य उससे बचकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उत्तम भक्त वही है जो कारण और कार्य रूप जगत में एक वासुदेव भगवान को ही सर्वत्र देखता है परन्तु यह दशा अनेक जन्मों के उत्तम संस्कार समूह के एकत्रित होने पर ही संभव हो सकती है। वास्तव में यह सब संसार परमात्मा की विभूति है, वही सबमें प्रतिष्ठित है किन्तु पापपंकिल पुरुष को यह दृष्टि नहीं प्राप्त होती। जिनके पाप नष्ट हो चुके हैं और मुमुक्षु बने हुये साधन पथ पर चल रहे हैं, वही इस दृष्टि के पाने के पात्र हैं अतएव प्रभु प्रपत्ति ग्रहण कर उनके भजन में पुरुष को लग जाना चाहिये। यदि वर्तमान जन्म में किसी कारण वश पूर्ण प्रेम योग को न भी प्राप्त कर सके तो घबराना नहीं चाहिये, दूसरे जन्म में सही, तीसरे जन्म में सही, प्रभु प्राप्ति अवश्य होगी क्योंकि भक्तों का नाश कभी नहीं होता। यही सातवें अध्याय मे वर्णित भगवान का सारतम संदेश है।

अष्टम-अध्याय

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

उपर्युक्त भगवान कृष्ण जी महाराज के वचनों को यथातथ्य न समझते हुये अर्जुन बोले हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके वचनों को सर्वथा समझने में असमर्थ रहा, अतएव, कृपा कर बतायें कि आपका बतलाया हुआ वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? और अधिभूत किसे कहते हैं ? तथा अधिदैव नाम से किसको बतलाया गया है ? जिज्ञासु को ज्ञानी गुरु के सामने अज्ञानी बनकर जाना ही शिष्य के स्वरूपानुरूप है अतएव श्री अर्जुन जी का प्रश्न उनके अनुरूप है।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

हे मधुसूदन ! अधियज्ञ कौन हैं ? और वह इस पंचभौतिक देह में कैसे रहता है ? तथा नियात्मा योगयुक्त पुरुषों के द्वारा प्राणान्त समय में किस प्रकार आप उनके ज्ञान के विषय बनते हैं ? वास्तव में परब्रह्म परमात्मा कुयोगियों को दुर्लभ है और सुयोगियों को सुलभ है अतएव उनको प्राण प्रयाण की बेला में भी पुरुषोत्तम भगवान का ज्ञान बना रहता है अर्थात् उनका चित्त एकीभूत होकर आराध्य में लगा रहता है इसलिये अर्जुन जी का प्रश्न है कि युक्तात्माओं द्वारा आप कैसे जानने में आते हैं, साधारणतया तो मृत्यु समय में दुःसह दुःख के कारण किसी का चित्त ठिकाने नहीं रहता!

श्री भगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।३।।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

अर्जुन को अपने प्रश्नों का यथार्थ उत्तर मिल जाना चाहिये इस कामना से भगवान श्री कृष्ण बोले हे सखे! परम अक्षर अर्थात् महाचेतन परमात्मा अविनाशी जिसका नाश कभी नहीं होता, ऐसे सच्चिदानन्दात्मक परम तत्व को ब्रह्म कहते हैं और अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा अध्यात्म नाम से कहा जाता है, तथा भूतों के हृद्गत भावों को प्रकट करने वाला, शास्त्रानुमोदित यज्ञ, दान, तप, आराधना, स्वाध्यायादि के निमित्त जो समय, शरीर और द्रव्यादिकों का उपयोग रूप त्याग किया जाता है, वह कर्म नाम से कहा गया है, और उत्पन्न होकर विनाशभाव को प्राप्त होने वाले सब प्रकृति सम्बन्धी पदार्थ अधिभूत कहलाते हैं, हिरण्यमय अर्थात् सूत्रात्मा पुरुष अधिदैव है तथा इसी शरीर में सर्वान्तर्यामी, सर्वात्मा, वासुदेवादि नामों से अभिहित होने वाला मैं स्वयं विष्णु रूप से अधियज्ञ हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

बन्धु! जो पुरुष प्राण–प्रयाण के समय मुझको स्मरण करता हुआ शरीर परित्याग करता है, वह मेरे ही भाव को प्राप्त होता है अर्थात् मेरे साम्य को प्राप्त करता है इसमें कुछ भी संशय नहीं है। जैसे कीट भृंग के स्मरण से भृंग का स्वरूप बन जाता है उसी प्रकार मुझमें चित्त लगाने वाला मेरा स्वरूप बन जाता है। यद्यपि अपरिणामी आत्मा का कोई रूप नहीं है, वह एक रस है फिर भी चित्त के अनुरूप स्वभाव वाला औपचारिक रूप से कहा गया है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

हे सखे ! यह सिद्धान्त है कि पुरुष जिस किसी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर–परित्याग करता है, वह उसी भाव को प्राप्त होता है क्योंकि सर्वकाल के अभ्यास के कारण तद्भाव से भावित हो जाता है अर्थात् उस भाव के अतिरिक्त वह अन्य कुछ नहीं रहता, जिस भाव से चित्त रंगा रहता है, उसी रंग से चित्त के आकार का हो जाने वाला आत्मा भी रंग जाता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।७।।

इसलिये हे सखे ! तुम सर्वदा मेरा स्मरण करते हुये मदर्थ युद्ध रूपी स्वधर्म का अनुष्ठान करो, इस प्रकार मुझमें मन–बुद्धि समर्पण किये हुये निष्काम कर्मयोग के सेवन से तुम निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगे क्योंकि परमात्मा में मन को केन्द्रित कर देने वाला परमात्मा में ही समाविष्ट हो जाता है जैसे अग्नि में पड़ने वाले कोई भी पदार्थ अग्नि रूप को धारण कर लेते हैं।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

हे सखे ! ध्यान योग के अभ्यास से युक्त पुरुष का चित्त अन्य ओर नहीं जाता जिससे परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का निरन्तर चिन्तन करता हुआ वह परम प्रकाश स्वरूप दिव्य पुरुष अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर को ही प्राप्त होता है। हे भाई ! अविमुक्त क्षेत्र काशी को जाने की इच्छा वाला पुरुष अन्य मार्गों की ओर न देखता हुआ काशी मार्ग पर ही यदि चलता रहता है तो वह एक दिन काशी अवश्य पहुँच जाता है। इसमें कोई आश्चर्य और संदेह नहीं है, ऐसा नियति का नियम ही है।

कविं पुराणमनुशासितार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

हे सखे ! जो पुरुष सर्वज्ञ ज्ञान मूर्ति पुराण पुरुष अर्थात् अनादि, सर्वशास्ता, स्वतन्त्र, स्वराट (निरंकुश शासक) सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबके धारक–पोषक, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्य के सदृश प्रकाश स्वरूप महाचेतन और अविद्या से अति परे शुद्ध सच्चिदानन्दात्मक, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को सतत स्मरण करता है, वह भक्ति से युक्त पुरुष प्राण–प्रयाण के समय में योग बल का आश्रय लेकर प्राण को भृकुटी के मध्य भली भाँति स्थापित करके निश्चल मन से अपने आराध्य का स्मरण करता हुआ उस चिन्मय स्वरूप परम पुरुष परब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त होता है। जैसे शब्दवेधी बाण चलाने में कुशल अप्रमत्त धनुर्धर सहज ही लक्ष्य का वेध करता है, उसी प्रकार उपर्युक्त विषय में भी तुम्हें समझ लेना चाहिये।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

हे बन्धु ! वेद–विद् विद्वान जिस अविनाशी सच्चिदानन्दघन स्वरूप परम पद को ओंकार नाम से निर्देश करते हैं और वीतराग यत्नशील योगी लोग जिसमें प्रवेश किया करते हैं तथा जिस अक्षर धाम प्राप्त करने की कामना वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परम पद को तुमसे मैं समास रूप में वर्णन करुँगा। ओंकार परमात्मा का नाम है और सच्चिदानन्दात्मक होने से परमात्मा के नाम, रूप, लीला, तथा धाम में अभेद है, इसलिये यहाँ परम पद को ओंकार नाम से कहा गया है क्योंकि धाम ओंकार स्वरूप ही है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योग धारणाम्।।१२।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

हे बन्धु! जो भक्ति–योगी अन्तकाल में सारी इन्द्रियों के द्वारों को रोककर अर्थात् इन्द्रियों को उनके अर्थों से हटाकर तथा मन को हृद् देश में स्थिर कर अर्थात् हृदय में स्थित परमात्मा में केन्द्रित करके तथा अपने प्राण को मूर्धा (ब्रह्मपुर) में स्थापित करके योगधारणा में स्थित हो जाता है और ओम् ऐसे इस एक अक्षर रूप परब्रह्म परमात्मा के नाम को उच्चारण करता हुआ तदर्थ स्वरूप हमारे चिन्तन के साथ शरीर त्याग करता है, वह पुरुष निःसंदेह परमगति को प्राप्त कर लेता है। जैसे पद के तलवे में लगाया हुआ तेल मस्तिष्क में पहुँच जाता है उसी प्रकार परमात्मा के चरण–कमलों का चिन्तन जीव को शिरोधाम अर्थात् परमपद को प्राप्त करा देता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

हे सखे! अन्य का आश्रय परित्यागकर अनन्यचित्त से जो पुरुष मेरा नित्य स्मरण करता है अर्थात् मेरे नाम, रूप, लीला और धाम के सेवन में सदा संलग्न रहता है उस मेरे में नित्य युक्त अर्थात् क्षणमात्र मेरे विस्मरण से दुखी होने वाले भक्ति–योगी के लिये मैं सर्वदा सुलभ रहता हूँ अर्थात् मैं उससे कभी पृथक् नहीं होता। जैसे माता पर निर्भर रहने वाले नन्हें शिशु से माता का मन कभी अलग नहीं होता, उसी प्रकार अनन्त माताओं का वात्सल्य रखने वाला मैं कभी अपने आश्रयी भक्त से पृथक् नहीं होता, यह वार्ता तुम सदा अपने हृदय में धारण किये रहना।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

बन्धु! ऐसी मेरी प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त कर महात्मा लोग, दुःख स्वरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते अर्थात् मेरे सच्चिदानन्द

स्वरूप परम धाम को प्राप्त कर पुनः प्रकृति मण्डल में लौटकर नहीं आते जैसे वायु के स्तर से ऊपर फेंके हुये पदार्थ पुनः पृथ्वी में आवर्तित नहीं होते।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

हे सखे ! ब्रह्मलोक से लेकर स्वर्गादि सभी लोक पुनरावर्ती स्वभाव से संयुक्त है अर्थात् जिनको प्राप्तकर पुरुष को पीछे संसार में आना पड़ता है परन्तु मुझको (मेरे धाम को) प्राप्त करके जीव का पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि मैं और मेरा धाम काल से अतीत हैं और ये सब ब्रह्मादिकों के धाम काल से बाधित अल्प अवधि वाले और अनित्य हैं। जैसे देही (आत्मा) नित्य और देह अनित्य है उसी प्रकार मेरे और ब्रह्मादि लोकों के विषय में अन्तर समझो।

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

हे सखे ! ब्रह्मा का एक दिन सहस्त्र चौकड़ी युग की अवधि वाला होता है तथा रात्रि भी हजार चौकड़ी युग के प्रमाण वाली होती है जो पुरुष तत्वतः यह जानते हैं कि समय की एक निश्चित अवधि तक ही रहने वाला ब्रह्म लोक अनित्य है, वह ही बुद्धिमान और ज्ञाता है क्योंकि उनकी बुद्धि से ब्रह्मलोकादि का प्रलोभन उठ जाता है, वे अच्युत धाम प्राप्त करने में ही प्रयत्नशील होते हैं। भाई ! अमृत को छोड़कर विष को ग्रहण करने वाले मूर्ख संज्ञा को ही प्राप्त होते हैं। अतएव बुद्धिमान वही है जो ब्रह्मविद् अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान की भक्ति करके उनके अपुनरावर्ती धाम को प्राप्त कर लेता है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके।।१८।।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१६।।

हे बन्धु! ब्रह्मा का जब दिन होता है, तब दृश्यमान जगत अर्थात् सम्पूर्ण भूत समुदाय ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होता है और जब ब्रह्मा की रात्रि का प्रवेश होता है, तब सम्पूर्ण भूत अव्यक्त ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में ही समा जाते हैं अर्थात् लय हो जाते हैं, जैसे दिन होते ही सूर्य से किरणें निकल आती है और रात्रि के प्रवेश होते ही सूर्य में ही समा जाती हैं, वैसे ही उपर्युक्त दृश्यमान संसार के विषय में तुम्हें जान लेना चाहिये। इस प्रकार से यह भूत समुदाय उत्पन्न हो हो कर प्रकृति के आधीन हुआ ब्रह्म रात्रि के आते ही लय हो जाता है और ब्रह्म दिन के प्रारम्भ होते ही उत्पन्न हो जाता है। इसी क्रम से ब्रह्मा की पूर्ण आयु एक सौ वर्ष पूर्ण होते ही अपने लोक सहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है। अतएव ब्रह्मलोक पर्यन्त सारा संसार क्षणभंगुर मृत्युस्वरूप दुःख का आलय है, यह विचार तुम्हें अपने ज्ञान से कभी भी नहीं हटाना चाहिये।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो ऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

परन्तु हे सखे! उपर्युक्त ब्रह्मा नामक अव्यक्त से भी अति परे सर्वथा विलक्षण जो दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है, वह सच्चिदानन्दघन पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण भूतों के नष्ट होने पर उसी प्रकार नष्ट नहीं होता जैसे देह के नष्ट होने पर जीवात्मा का विनाश नहीं होता।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

हे सखे! ब्रह्मादिकों के नाश होने पर भी जिस अविनाशी अव्यक्त का नाश नहीं होता, उसी अक्षर नामक श्रेष्ठ अव्यक्तभाव को परमगति कहते हैं, अस्तु जिस सनातन उक्त अव्यक्तभाव को प्राप्त कर पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् जिसको प्राप्त कर पुनः वहाँ से लौटकर संसार में आना नहीं पड़ता, वही मेरा परमधाम है। बन्धु! तुम्हारी समझ में अब यह वार्ता आ गई होगी कि सूक्ष्म अव्यक्त नामक ब्रह्मा से अतिपरे दूसरा अव्यक्त भाव है जो सबका कारण है जिसे परब्रह्म परमात्मा और पुरुषोत्तम भगवान आदि नामों से संबोधित किया जाता है, वही परमतत्व परमधाम कहलाता है अर्थात् परम धाम, परमगति, परब्रह्म परमात्मा और पुरुषोत्तम भगवान ये सब एक ही परात्पर अद्वय तत्व के नाम हैं, परमधाम और परमात्मा में भेद नहीं है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

हे सखे! जिस परब्रह्म परमात्मा के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूतसमूह स्थित हैं और जिस परम अद्वयतत्व से यह सब जगत सब ओर उसी प्रकार परिपूर्ण हैं जैसे जल से बर्फ का पिण्ड, उस परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति अनन्य भक्ति योग द्वारा मनुष्य को होती है। हे पार्थ! अन्य देवी–देवताओं के आश्रयण पूर्वक आराधन के त्याग को अनन्यता कहते हैं, अपने व अन्य के लिये अपनी देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि और आत्मा को उपयोगी न समझना तथा परमपुरुष परब्रह्म परमात्मा के लिये ही अपनी आत्मा व आत्म सम्बन्धी वस्तुओं का विनियोग करना अनन्यता कही जाती है। एक परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को ही अपना शेषी, भोक्ता और रक्षक समझना अनन्यता कहलाती है। एक परब्रह्म परमेश्वर के अतिरिक्त जगत में कुछ नहीं है, भगवान ही संसार के स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं, यह जानना भी अनन्यता का ही लक्षण है। पतिव्रता पत्नी की भाँति एक पुरुषोत्तम भगवान की ही सत्ता समझते हुये प्रेम करना, उनके सुख से सुखी रहना

और अपना सर्व समर्पण उनको किये रहना तथा उनके स्मरण बिना एक क्षण को भी न सहना अनन्यता कहलाती है। इस प्रकार से सम्पूर्ण भूतों में मुझको देखता हुआ निर्वैर रहकर जो भक्तिमान् पुरुष मेरे लिये ही सारी चेष्टाओं को करता है वह निःसंदेह सहज में ही मुझ परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

यत्रकाले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

हे भरतर्षभ ! जिस काल में देह त्याग कर गये हुये योगी पुनः संसार में लौटकर नहीं आते और जिस काल में शरीर त्याग कर गये हुये पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं उस काल का अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग का वर्णन करूँगा। भगवान गतिकाल को बताकर ये प्रेरणा देना चाहते हैं कि मनुष्य उत्तम गति प्राप्त करने विषयक वार्ता को समझकर अपुनरावर्ती धाम प्राप्त करने के साधन में तत्पर हो जाय, अन्यथा जीने–मरने के दुःसह दुःख का भाजन बनकर चौरासी लाख योनियों में भटकना ही हाथ लगेगा।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

हे सखे ! अब अर्चिमार्ग की वार्ता श्रवण करो जिस मार्ग में अग्नि, अभिमानी, ज्योतिर्मय देवता का निवास हैं और दिन का अभिमानी देवता तथा शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण के छह महीनों का अभिमानी देवता निवास करता है, उस मार्ग से मृत्यु को प्राप्त कर गमन करने वाले ब्रह्मज्ञानी अर्थात् परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को उन्हीं की भक्ति द्वारा जानने वाले युक्त पुरुष, उपर्युक्त देवताओं द्वारा क्रमशः ले जाये हुये ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, अर्थात् ब्रह्म स्वरूप परम धाम को प्राप्त होते हैं। बन्धु ! जब ब्रह्मवेत्ता जीव मृत्यु समय में परमात्मा के नाम का स्मरण करता हुआ उनके ध्यान में स्थित होकर तदाकार हो जाता है, तब वह प्रकाश

स्वरूप रहता है, यही ज्योतिर्मय अग्नि के अभिमानी देवता के मार्ग से जाना है, दिन के समय मृत्यु होना दिन के अभिमानी देवता के मार्ग से जाना है, शुक्ल पक्ष में मृत्यु होना शुक्लाभिमानी देवता के मार्ग से जाना है और उत्तरायण सूर्य के समय में मृत्यु होना उत्तरायण के अभिमानी देवता के मार्ग से जाना है। साराँश यह हुआ कि जो ब्रह्मविद् मेरी भक्ति के बल से मुझको जानता हुआ मेरे में चित्त लगाये हुये दिन के समय शुक्ल पक्ष में उत्तरायण सूर्य के समय शरीर त्याग करता है वह मुझको अर्थात् मेरे धाम को निश्चय प्राप्त होता है। इसी मार्ग को देवयान मार्ग कहते हैं। जैसे शुद्ध संयास ग्रहण करने वाला व्यक्ति पुनः लौटकर गृहस्थी में नहीं जाता उसी प्रकार उक्त मार्ग से जाने वाला पुरुष पुनः संसार में जन्म नहीं लेता।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

हे सखे ! इसी प्रकार जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता रहता है और यहाँ रात्रि अभिमानी देवता का वास है तथा जिस मार्ग में कृष्णपक्षाभिमानी देवता है और जहाँ पर दक्षिणायन के छह महीनों का अभिमानी देवता है उस मार्ग में मर कर गया हुआ सकाम योगी क्रमशः उपर्युक्त देवताओं द्वारा ले जाया हुआ चन्द्र ज्योति को प्राप्त कर स्वर्ग में अपने शुभ कर्मों के फल को भोगता है, पुनः पुण्य क्षीण होने पर पुनर्जन्म को प्राप्त होता है अर्थात् आगे न जाकर पीछे लौटता है। सरल अर्थ में यह समझो कि जब सकाम योगी अपनी वासना रूप धूम मार्ग में और रात्रि के तथा कृष्ण पक्ष में दक्षिणायन के छह महीनों के समय में शरीर छोड़ते हैं तब वे अपनी वासना की पूर्ति स्वर्गादि सुख भोग करके उसी प्रकार पुनः संसार में जन्म लेते हैं जैसे निमंत्रण खाने जाने वाला व्यक्ति खा पीकर पुनः लौटकर घर आता है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

बन्धु! संसार के शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान नामक दो प्रकार के मार्ग सनातन हैं, इनमें एक के द्वारा गया हुआ पुरुष पुनरावर्तन न होने वाली परमगति को प्राप्त होता है और दूसरे द्वारा गया हुआ पुनर्जन्म अर्थात् जन्म–मरण का चक्कर काटता है जैसे बिन्दु से छूटने वाली परिधि यदि बिन्दु को प्राप्त होने वाले मार्ग से गयी तो बिन्दु को प्राप्त कर उसका चलना समाप्त हो जाता है और यदि बिन्दु से मिलने वाले रास्ते से पृथक होकर चली तो उसका चलना समाप्त नहीं होता।

नैतेसृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

हे सखे! उक्त प्रकार के दोनों मार्गों के रहस्य को समझ लेने वाला कोई भी योगी मोह को नहीं प्राप्त होता अर्थात् निष्काम भाव से भगवदर्थ ही साधन करता है वासना पिशाचिनी के चंगुल में नहीं फँसता इसलिये हे अर्जुन! तुम सर्व समय समत्व बुद्धि रूप योग से युक्त होकर हमारी प्राप्ति के लिये मदर्थ कर्मों को करने वाले बनों क्योंकि बिना मेरी प्राप्ति के शाश्वत सुख की प्राप्ति उसी प्रकार संभव नहीं है जैसे बिना पृथ्वी के गन्ध की।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

हे सखे! योगी पुरुष तत्वतः इस रहस्य को समझकर वेदों के पठन–पाठन तथा यज्ञ–तप और दानादिकों के करने से जो पुण्यफल शास्त्रों ने बताया है उस सबके प्रलोभनों से पार होकर निःसंदेह परम पद को प्राप्त करता है। भला सोचो तो सही कोई भी बुद्धिमान पुरुष अनल्प

को त्याग कर अल्प को स्वीकार करेगा ? अमृत को त्याग कर विष का पान क्या उसे रुचिकर होगा ? अतएव तुम भी उस शाश्वत सुख के सागर स्वरूप मेरे परमपद की प्राप्ति के प्रयत्न में संलग्न हो जाओ।

तात्पर्यार्थ

परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही परम तत्व एवं सर्वस्वरूप हैं, सतत् उनके नाम स्मरण से अभ्यास के कारण मृत्यु समय में उन्हीं की नाम स्मृति बनी रहने से मनुष्य उन्हीं को प्राप्त होता है। उनकी प्राप्ति उनकी अनन्य भक्ति से ही सुलभ है, सकामी साधन निष्ठ पुरुष भी जब उनको प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं तब विषयी जीवों के विषय में क्या कहा जाय। वे तो तमसाच्छन्न तिर्यगादि योनियों को प्राप्त कर दुःख की मूर्ति ही बने रहते हैं, इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को चाहिये कि वह भक्ति योग से युक्त होकर भगवदर्थ भगवत–प्रिय कर्मों का अनुष्ठान करते हुये कालक्षेप करें, स्वर्गादि सुखों के भोगने के लिये देवताओं के दिये आमंत्रण को अहं रहित रहते हुये कभी मन से स्वीकार न करे। आत्मा–परमात्मा के संयोग के लोभ में लगे रहने से अवश्यमेव परम पद की प्राप्ति होगी ही, यही आठवें अध्याय में कहा हुआ भगवान का सारतम संदेश है।

नवम-अध्याय

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

पुनः भगवान वासुदेव बोले, हे सखे ! तुममें दूसरे के दोष—दर्शन की दृष्टि नहीं है अर्थात् तुम किसी की निन्दा नहीं करते हो, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता है अतएव इस आध्यात्मिक परम गोपनीय ज्ञान को सरहस्य तुमसे वर्णन करूँगा, जिसको जानकर तुम दुःख स्वरूप अपवित्र अनित्य और अनात्म संसार से मुक्त हो जाओगे अर्थात् अविद्या से पार होकर मेरे परम पद को प्राप्त करोगे। बन्धु ! जैसे पृथ्वी पार्थिव कणों (मिट्टी ही मिट्टी) से बनी है, वह है ज्ञान और वह पृथ्वी गंधमयी, वसुमयी तथा सबकी धारक पोषक भी है, इत्यादि पृथ्वी का रहस्यमय ज्ञान है, वैसे ही ज्ञान और ज्ञान के रहस्य के विषय में समझो।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

सखे ! जिस ज्ञान को तुमसे कहने जा रहा हूँ वह ज्ञान सम्पूर्ण विद्याओं का राजा तथा समस्त गोपनीय तत्वों का भी राजा है साथ ही परम पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फल प्रदायक और धर्म से ओत—प्रोत है, साधन की दृष्टि से तो बड़ा ही सुगम है साथ ही अविनाशी है अर्थात् वह ज्ञान एक बार प्राप्त कर लेने के बाद कभी जन्म जन्मान्तर, युग युगान्तर और कल्प कल्पान्तर में भी क्षय को नहीं प्राप्त होता। भैया ! कहाँ तक उक्त विषय की प्रशंसा करें, जिन विशेषणों व धर्मों से युक्त विशेष्य एवं धर्मी परमात्मा

है, उन्हीं विशेषणों व धर्मों से युक्त उनसे अभेद देखने वाला उनका ज्ञान भी है, जैसे जिस गुण व धर्म वाला ऊन होता है उसी गुण व धर्म से युक्त ऊनी वस्त्र भी होता है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३३।।

हे बन्धु! उस परम तत्व ज्ञान स्वरूप धर्म में श्रद्धा न रखने वाले पुरुष मुझ परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते, वे मृत्यु स्वरूप संसार चक्र में परिभ्रमण उसी प्रकार किया करते हैं जैसे भूल–भुलैया के गृह का पूर्ण ज्ञान व उससे निकलने वाले मार्ग का ज्ञान न होने के कारण उसमें प्रवेश करने वाले मनुष्य उसी के भीतर ही घूमते रहते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

हे सखे! अब समाहित चित्त से तुम उस ज्ञान को सुनो, मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम से यह सम्पूर्ण जगत जल से बर्फ के सदृश परिपूर्ण है अर्थात् मुझ परमात्मा के अतिरिक्त इसमें और कुछ नहीं है, जैसे सोने के नाग के प्रत्येक अंगों में सोना ही सोना समाया रहता है वैसे ही तुम इस जगत को ब्रह्मात्मक समझो, यह सब चराचर भूत समुदाय जो तुम देख रहे हो, मेरे संकल्प से मेरे अन्तर्गत स्थित है, इसलिये वास्तव में मैं उनमें स्थित नहीं हूँ, जैसे मठाकाश के भीतर बहुत से घट रखे हैं, परन्तु वास्तव में मठाकाश घटाकाश के भीतर नहीं है, वह अपने में ही स्थित है क्योंकि घटाकाश निकाल लेने से व रखे रहने पर उसकी एकरस परिपूर्णता में कोई अन्तर नहीं आता।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

बन्धु ! मेरी योग शक्ति और उसके ऐश्वर्य को तो देखो ! जिसके प्रभाव से सम्पूर्ण भूतों को उत्पन्न करने वाला एवं उनका धारण पोषक होता हुआ भी मैं उनमें वास्तव में स्थित नहीं हूँ अर्थात् मेरी आत्मा उनमें स्थित नहीं है, स्वयं में स्थित है और न वे भूत ही मेरे में स्थित हैं, जैसे आकाश से उत्पन्न होने वाला एवं सर्वत्र विचरने वाला महान वायु आकाश ही में स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्प से उत्पन्न होने से मेरे में स्थित हैं, इस प्रकार तुम समझो। भाव यह हुआ कि आकाश सूक्ष्म है तथा सर्वव्यापक है, वह स्वयं में स्थित है, जब उससे वायु उत्पन्न हुआ तो वायु ने आकाश में स्थित होते हुये भी आकाश का कोई भाग कम नहीं किया, इसलिये वायु आकाश में स्थित होते हुये भी आकाश में नहीं है, तथा आकाश भी अपने ही में स्थित है, वायु में नहीं। इस दृष्टान्त को तत्वतः जान लेने से यह बात समझ में आ जाती है कि वास्तव में परमात्मा किसी भूत में स्थित नहीं है स्वयं में ही स्थित है और भूत समुदाय भी न परमात्मा में स्थित है न स्वयं में ही स्थित है, वे परमात्मा की योगमाया के प्रभाव एवं संकल्प के आधार से उनमें स्थित से दिखाई देते हैं, वास्तव में सबमें परमात्मा ही है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

हे सखे ! कल्प की समाप्ति में सर्वभूत मेरी प्रकृति मे लय हो जाया करते हैं और कल्प के आदि में पुनः मैं उनको उनके संस्कारानुसार रचता हूँ। जैसे माता नन्हें शिशु को रात्रि समय अपने उदर से छपका कर स्वयं विश्राम करती है और दिन के प्रारम्भ होते ही शिशु को जगाकर उसकी इच्छानुसार उसे क्रीड़न आदि कर्म में प्रवृत्त कराती है वैसे ही भगवान

का संहार और सृजन है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

बन्धु ! संसार का सृजन बिना प्रकृति के मुझसे नहीं होता है क्योंकि मैं अकर्ता हूँ, अकल हूँ और अनीह हूँ इसलिये अपनी त्रिगुणात्मिका माया को अंगीकार करके स्वभावतः प्रकृति के परतन्त्र हुये मायाधीन भूत समूहों को पुनः पुनः उनके कर्मों के अनुसार रचता रहता हूँ। जैसे कुशल कलाकार सोने, चाँदी, पीतल, ताँबा आदि से विविध प्रकार के पात्र बनाता है, पुनः उनके टूटने पर पुनः पुनः उन्हें उनकी स्थिति के अनुसार रचता रहता है, वैसे ही परमात्मा की सृष्टि कला है।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।६।।

हे सखे ! सृजन, संरक्षण और संहार कार्य मुझे बांधने में समर्थ नहीं होते क्योंकि एक तो मैं सहज ही नित्य, मुक्त, शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्दघन हूँ, दूसरे उन कर्मों में आसक्ति हीन और उदासीन के सदृश रहता हूँ, वे सम्पूर्ण मेरे कर्तृत्व भाव के बिना केवल मेरी सत्ता मात्र से अपने आप होते रहते हैं जैसे सिन्धु में उसकी सत्ता मात्र से लहरें, बुद–बुद फेन आदि अपने आप उठते रहते हैं, समुद्र कोई कर्तृत्वभाव नहीं लाता वैसे ही मुझ अनन्त परब्रह्म पुरुष में सृष्टि कार्य स्वाभाविक होता रहता है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

बन्धु ! मेरी सकाशता से मेरी शक्ति स्वरूपा प्रकृति ही जड़चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् को रचा करती है और उपर्युक्त कारण से ही जगत चक्र चालू रहा करता है अर्थात् जन्म–मरण रूप आना जाना लगा ही रहता

है। जैसे रहट की बाल्टियाँ नीचे ऊपर जाकर कभी भरती और कभी खाली होती हैं वैसे ही जीव कभी देव और कभी असुर लोकों को प्राप्त कर सुखी दुखी हुआ करता है, चौरासी लाख योनियों के चक्र में घूमता रहता है।

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

सखे! जीवों की यह दैन्य दशा को देखकर मैं दया–परवश हो जाता हूँ और उनका उद्धार करने के लिये उसी प्रकार इस संसार में जन्म धारण करता हूँ जिस प्रकार अपनी सन्तति को कुएँ में गिरे हुये देखकर वात्सल्यमयी माता उसको बचाने के लिये कुएँ में कूद पड़ती है, परन्तु मेरे इस सौहार्द एवं सौजन्य का तिरस्कार करके मुझ सम्पूर्ण संसार के महेश्वर परम भाव रूप परब्रह्म परमात्मा को तत्वतः न जानने वाले मूढ़ लोग मुझ पर ब्रह्म पुरुषोत्तम को तुच्छ समझकर अपमानित करते हैं, अर्थात् अपनी योगमाया से संसार की कल्याण कामना से मनुष्य रूप धारण करने वाले मुझको साधारण मनुष्य समझते हैं, यह ज्ञान उन्हें नहीं आता कि परमात्मा सदा एक रस रहता है, सगुण–निर्गुण साकार, निराकार उसके विशेषण हैं, जीव कल्याण के लिये ही वह अवतार ग्रहण करता है।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः।।१२।।

सखे! अल्प और व्यर्थ वस्तु की, आशा अल्प फल–दायक व्यर्थ कर्म और विपरीत व्यर्थ ज्ञान वाले अज्ञानी लोग, जीव को मोह के बन्धन से बाँधने वाले राक्षसी और आसुरी प्रवृत्ति को ही धारण करने वाले हैं। जो आशा, जो कर्म और जो ज्ञान मुझ परब्रह्म परमात्मा से विमुख करने वाला है वह सब आसुरी स्वभाव का द्योतक है अतः मुझसे विमुख पुरुषों को तुम राक्षस और असुर ही समझो, अन्त में उन्हें असुर लोक की ही प्राप्ति

होनी निश्चित है जो अन्धकार से परिपूर्ण है। भाई ! सूर्य–विमुखी उल्लू को अन्धकार के अतिरिक्त और क्या मिलेगा।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

बन्धु ! जो दैवी प्रकृति अर्थात् दैवी सम्पत्ति से संयुक्त महात्मा गण हैं, वे मुझको सम्पूर्ण भूतमय जगत् का आदि कारण अर्थात् इस संसार के आदि–मध्य और अन्त में एक मुझे ही जानकर तथा परमाक्षर स्वरूप साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान समझकर अनन्य भाव से भावित्मन से युक्त हुये, मेरे भजन में सदा लगे रहते हैं। परम प्रीति के द्वारा चकोर जैसे चन्द्रमा में टकटकी लगाये रहता है, वैसी प्रीति तथा पपीहा के समान अनन्यता ग्रहण कर मेरा भजन करना ही महात्मा जनों की पहचान है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

सखे ! क्या कहूँ और कहूँ भी तो अनन्त का अन्त कैसे प्राप्त कर सकता हूँ, अहो ! मेरे भक्तों की भव्य रहनि मुझे उनके सदा आधीन बनाये रहती है, वे मेरी प्राप्ति के प्रयत्न में सदा लगे रहते हैं, सर्वकाल में मेरे नाम और गुणों के कीर्तन करने का दृढ़व्रत लेकर मेरे परायण बने रहते हैं, कभी कीर्तन प्रिय प्रेमी भक्त रोते हैं कभी हँसते हैं और कभी लोक बाह्य बुद्धि–युक्त होकर नृत्य करने लगते हैं तथा पराभक्ति से भरे वे भक्त चराचर जगत को मेरा स्वरूप समझकर बारम्बार नमस्कार करते हैं, इस प्रकार मेरे स्वरूप के ध्यान में संलग्न होकर नित्य अनन्य प्रयोजन वाले बनकर अनन्य भक्ति से मेरी उपासना किया करते हैं। ऐसे भक्तों के समीप रहकर उनके प्रेम में पगे रहना मुझे भी बहुत ही रुचिकर लगता है। वे रोते हैं तो मैं भी उनके लिये रोता हूँ, वे हँसते हैं तो हँसता हूँ और मेरे प्रेम में

पागल बनकर वे नाचते हैं तो मैं भी उनके प्रेम में सब भूलकर नृत्य करता हूँ।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

हे सखे ! इन प्रेमी भक्तों के अतिरिक्त कोई ज्ञान यज्ञ अर्थात् ब्रह्मबुद्धि से परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहने की पद्धति से मेरा पूजन कर मेरी उपासना करते हैं, कोई "सर्वं वासुदेवमिति" भाव से, कोई स्वामी सेवक भाव से और कोई मुझ विराट स्वरूप परमात्मा की उपासना बहुत विधि से करते हैं। बन्धु ! मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं, मैं ही, मैं हूँ प्रत्येक विधियों के द्वारा मैं पूजित होता हूँ क्योंकि प्रत्येक विधि में भी मैं ही हूँ। जैसे सभी नदियों, नालों और वर्षा का पानी सब ओर से समुद्र को प्राप्त होता है, वैसे ही विविध भाँति की उपासना मेरे को ही प्राप्त होती है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

बन्धु ! क्रतु अर्थात् श्रौत कर्म मैं ही हूँ, यज्ञ अर्थात् पञ्च महायज्ञादि स्मार्त कर्म मैं ही हूँ, स्वधा अर्थात् पितरों को अर्पण किया जाने वाला अन्न मैं ही हूँ, औषधि अर्थात् सम्पूर्ण वनस्पतियाँ मैं ही हूँ इसी प्रकार मंत्र मैं ही हूँ, घृत मैं ही हूँ, अग्नि मैं ही हूँ और हवन रूप क्रिया मैं ही हूँ अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञ सामग्रियों और अंगों सहित यज्ञ स्वरूप स्वयं मैं ही हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम युजरेव च।।१७।।

हे सखे ! सम्पूर्ण जगत का धारक व पोषक मैं स्वयं हूँ, मैं ही सबका माता पिता और पितामह हूँ तथा वेद वेद्य अर्थात् वेद के द्वारा जानने योग्य

पवित्र ओंकार हूँ, जिसका जप कर लोग परम पवित्र होकर मुझ परमात्मा को प्राप्त करते हैं और ऋग्, यजुः सामवेद अर्थात् वेदत्रयी धर्म भी मैं ही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

बन्धु ! मैं ही सबकी परम गति अर्थात् प्राप्तव्य वस्तु हूँ। मैं ही सबका भरण पोषण करने वाला, सर्व समर्थ स्वामी भी हूँ मैं ही सबकी शुभाशुभ चेष्टाओं को देखने वाला हूँ अर्थात् मेरी सकाशता से ही सर्वभूत स्वचेष्टाओं को किया करते हैं, सम्पूर्ण संसार का वास स्थान भी मैं ही हूँ अर्थात् आकाश में जैसे वायु का वास स्थान है उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणि समुदाय मेरे में रहा करते हैं, तथा मैं ही सर्वलोक शारण्य हूँ अर्थात् सबका सहज निरपेक्ष रक्षक हूँ, और सबका निर्हेतुक उपकार करने वाला परम मित्र हूँ, एवं जगत की उत्पत्ति प्रलय का हेतु भी मैं ही हूँ सबका आधार और निधान भी मैं ही हूँ कहाँ तक कहूँ मैं ही सबका अविनाशी कारण हूँ। भाई ! कारण और कार्य को एक करके देखना यथात्म्य ज्ञान है, अतएव इस जगत को मेरा स्वरूप ही समझो।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१६।।

सखे मैं ही सूर्य रूप होकर तपता हूँ अर्थात् जगत को प्रकाश देता हूँ, तथा वर्षा को आकर्षण करता हूँ और वर्षाता हूँ, मैं ही अमृत हूँ, मैं ही मृत्यु हूँ, एवं सत्य भी मैं हूँ और असत भी मैं हूँ, कहने का भाव यह है कि सब कुछ मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जैसे मिट्टी के खिलौने के ऊर्ध्व और अधो अंग सब मिट्टी के ही हैं या यों कहिये कि सबमें मिट्टी ही मिट्टी है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! मेरे जगतरूप खिलौने में सब ओर से सबके बाहर भीतर मैं ही मैं ही हूँ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

हे सखे! ऋक्, यजु और सामवेद में विहित सकाम कर्म के करने वाले निष्पाप सोमरस भोगी पुरुष यज्ञों के द्वारा मेरा पूजन कर स्वर्ग सुख की कामना करते हैं, अतएव वे लोग अपने किये हुए पुण्य फल के अनुसार इन्द्रलोक को प्राप्त कर, स्वर्ग लोक में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं क्योंकि मैं मनुष्यों की वासना के अनुरूप ही उन्हें उनके कर्मफलों को भोगने के लिये लोक, योनि एवं आयु उसी प्रकार प्रदान करता हूँ जैसे सामर्थ्यशाली सज्जन गृहस्थ गृह में आये हुये मेहमान का स्वागत उसकी रुचि एवं प्रतिष्ठा को देखते हुये करता है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

बन्धु! उक्त प्रकार के स्वर्ग–कामी पुरुष स्वर्गलोक के विशाल वैभव एवं सुख को भोगकर पुण्य क्षीण होते ही मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार स्वर्ग प्राप्ति के साधन स्वरूप त्रयी धर्म अर्थात् सकाम कर्मों का आश्रयण ग्रहण करने वाले सकामी पुरुष बारम्बार आने जाने में ही लगे रहते हैं, अर्थात् कभी ऊँचे कभी नीचे लोकों में अपने कर्मानुसार जन्म मरण रूप भ्रमण किया करते हैं। भैया! जैसे रहट की बाल्टियों में जब जल भर जाता है तब ऊपर जाती हैं और जब वे रिक्त हो जाती हैं तब नीचे आती हैं, वैसे ही पुण्य के प्रभाव से लोग स्वर्ग जाते हैं और पुण्य के नाश होने पर मृत्यु लोक आते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

हे सखे! मेरे भक्तों की महिमा तो अवर्णनीय है जो अन्याश्रय और अन्य प्रयोजन को छोड़कर अनन्य भाव से मेरे चिन्तन में सर्वदा लगे रहते हैं

अर्थात् मेरे नाम, रूप, लीला धाम का रसास्वाद निरन्तर करते रहते हैं, ऐसे भक्ति भाव में नित्य अभियुक्त रहने वाले निष्काम भक्तों का योग क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ अर्थात् परमार्थ दृष्ट्या परमात्म प्राप्ति के साधन में संलग्न कर उसका निर्वाह निर्विघ्न करा देता हूँ, जिससे मैं सहज सुलभ हो जाता हूँ और शरीर यात्रा के निर्वाह के लिये अप्राप्य इष्ट वस्तु को स्वयं प्राप्त कराकर उसकी रक्षा भी करता हूँ, जिससे भक्त की लोक यात्रा बड़ी सुख सुविधा से सम्पन्न होती है। भाई ! अपना अनन्य सेवक सबको प्यारा होता है, सभी उस पर ममता रखते हैं, सभी उसके सुख के लिये यत्न करते हैं, तो सर्व समर्थ एवं अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न मैं अपने अनन्य भक्त का योग क्षेम क्यों न वहन करूँ, जिस प्रकार वात्सल्यभाव से भरी माँ अपने नन्हें शिशु का संभार करती है उसी प्रकार मैं अपने पर निर्भर रहने वाले भक्तों का संभार करता हूँ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

बन्धु ! जो पुरुष श्रद्धा से संयुक्त होकर अन्य देवताओं का पूजन किया करते हैं, वे भी एक प्रकार से मेरी ही पूजा करते हैं क्योंकि देवता मेरे अंग ही हैं, परन्तु उनका वह पूजन एवं अनुष्ठान अविधि पूर्वक अर्थात अज्ञान से युक्त हैं क्योंकि वे मुझे अंगी नहीं स्वीकार करते, देवताओं को स्वतन्त्र देवता समझते हैं और मुझको रक्षक न समझकर अन्य देवताओं को रक्षक समझते हैं। भला सोचो तो सही, सर्व समर्थ राजा के मन्त्री आदि अंगों को माने और राजा से विमुख रहे तो क्या कोई पुरुष राजा से मिलने वाले पूर्ण लाभ को प्राप्त कर सकता है ?

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

सखे ! यह बात सही है कि मैं ही यज्ञभुक और यज्ञेश हूँ अर्थात् सम्पूर्ण

यज्ञों को भोगने वाला और यज्ञों का स्वामी हूँ परन्तु वे देवताओं के पूजक, यज्ञ स्वरूप मुझ परब्रह्म परमेश्वर को तत्वतः नहीं जानते, जिससे उनका पतन होता है अर्थात् जन्म मरण के चक्कर से अवकाश नहीं पाते जैसे अँग की सेवा अंगी की ही सेवा है किन्तु यह न समझकर अर्थात् अंगी को तत्व से न जानकर अन्य अंगों से द्वेष करे और एक अंग की सेवा करे तो अंगी कैसे प्रसन्नता को प्राप्त होगा, वैसे ही बिना मेरे ज्ञान के अन्य देवताओं का पूजन भी समझो।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

बन्धु ! अन्य देवताओं की आराधना एवं मेरी आराधाना से जो गति होती है, उसे श्रवण करो। देवताओं के आराधक देवताओं को प्राप्त करते हैं अर्थात् देवलोक जाते हैं— पितरों के पूजक पितरों को प्राप्त करते हैं अर्थात् पितृलोक में वास करते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं अर्थात् भूत योनि को प्राप्त कर भूतलोक में निवास करते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त करते हैं। मेरे परमधाम को प्राप्त कर मेरे ही समान रूप वाले हो जाते हैं तथा मेरे ही समान गुण व विभूति प्राप्त कर मेरे समान मेरे ही साथ सम्पूर्ण कामों का उपभोग करते हैं। भाई ! यह सीधी सी बात है कि अल्प और सान्त में समाने वाली वस्तु अल्प और सान्त तथा अनल्प और अनन्त में समाने वाली वस्तु अनल्प और अनन्त हो जाती हैं, पानी की बूँद गोष्पद में पड़ने से गोष्पद जल ही रहेगी और वही समुद्र में पड़ने से समुद्र संज्ञा को प्राप्त करेगी।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

सखे ! बड़े आश्चर्य का विषय है, देवताओं के पूजने में, अधिकार, विधि

और बड़ी बलि की आवश्यकता होती है, प्रसन्न होने पर वे अल्प क्षणभंगुर भोग ही प्रदान करते हैं किन्तु मुझे कुछ न चाहिये केवल प्रेम चाहिये, जो भक्तिभाव से भर कर पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि मुझे समर्पण करता है तो मैं उस प्रयतात्मा प्रेमी भक्त द्वारा प्रेमपूर्वक समर्पण किये हुये पत्र पुष्पादि को सगुण रूप से प्रगट होकर प्रीति पूर्वक खाता हूँ, ऐसी मेरी सुगम पूजा है तो भी संसारी लोग मेरी पूजा से विमुख रहते हैं, कोई ही मेरे में प्रीति करने वाले होते हैं। जैसे सब मृगों के नाभि में कस्तूरी, सम्पूर्ण हाथियों के मस्तक में गजमुक्ता और सम्पूर्ण सर्पों के मुख में मणि नहीं होती वैसे ही संसार के सब मनुष्य मेरे भक्त नहीं होते।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

इसलिये आत्यान्तिक दुःख की निवृत्ति के लिये एवं शाश्वत सच्चिदानन्दात्मक सुख की प्राप्ति के लिये तुम जो करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान देते हो, जो कुछ स्वधर्माचरण रूप तप करते हो, वह सब मुझको अर्पण करो। बन्धु ! मदर्थ निष्काम कर्म मुझको परम प्रसन्न करने वाला होता है और जब मैं प्रसन्न हो जाता हूँ तब मेरा भक्त मुझको व मेरी विभूति को अपने आधीन कर लेता है, अतएव सर्व कामनाओं का परित्याग कर मेरे लिये चेष्टा करो, जिससे आनन्द की मूर्ति बन जाओगे।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

सखे ! इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों के फल को मुझे अर्पण करना ही सच्चा सन्यास योग है अतएव इस योग से युक्त मन वाले होने से तुम शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगने रूप कर्म बन्धन से मुक्त हो जाओगे और कर्म फल के बन्धन से मुक्त होने पर मुझको ही प्राप्त करोगे क्योंकि यह नियम

है कि मेरा भजन करने वाला भक्त मुझको ही प्राप्त होता है। बिना कुछ लिये किसी की सेवा करने वाला सेवक स्वामी को ही प्राप्त होता है स्वामी ही उसके सारे योग क्षेमों को किया करता है किंबहुना अपने घर का मालिक बना देता है, किं पुनः मुझ ऐसे कृतज्ञ, सर्व समर्थ और दयालु स्वामी की वार्ता।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२६।।

बन्धु ! यद्यपि मैं सर्वभूतों में अन्तर्यामी रूप से समान स्थित हूँ, समदर्शी हूँ, मुझे न किसी से द्वेष है न राग । मैं न किसी का पाप ग्रहण करता हूँ न पुण्य, तथापि जो भक्त मेरा भजन प्रेमाभक्ति के पथ में चलते हुये निरन्तर किया करते हैं, वे मुझमें और मैं उनमें प्रत्यक्ष रूप से प्रकट रहता हूँ, जैसे अग्नि सभी काठों में समान रूप से व्यापक होने के कारण व्याप्त रहता है, परन्तु जहाँ जिन लकड़ियों का संघर्ष होता है वहाँ उनमें प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है, वैसे ही मेरे विषय में समझो।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

सखे ! मेरी भक्ति का प्रभाव अनिर्वचनीय है, उसे सुनो ! यदि कोई भक्त अपनी इन्द्रियों को प्रयत्न करने पर भी विषय सेवन रूप दुराचारों से रोकने में असमर्थ रहता है किन्तु मेरा भजन अनन्य भाव से करता है, मुझे छोड़कर विषय त्यागने में अन्य उपायों का वरण नहीं करता है, वह दृढ़ निश्चय रखता है कि हृषीकेश के रोके बिना मेरी इन्द्रियाँ मेरे आधीन नहीं हो सकतीं, अतएव आर्तिपूर्ण प्रार्थना भी करता है कि हे प्रभो ! मुझे कब विषय वितृष्ण बनाओगे, कब मैं अनन्य प्रयोजन वाला बनकर आपके प्रेमाभक्ति का आस्वाद अनुभव करूँगा, वह साधु ही मानने योग्य है अर्थात्

वह साधु ही है क्योंकि वह सम्यक् रूप से मुझमें अनन्यतया प्रीति करने वाला यथार्थ निश्चयी है, उसके ज्ञान में मेरे भजन के समान अन्य कुछ नहीं है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

हे सखे ! इस प्रकार इन्द्रिय निरोध से रहित होते हुये भी मेरे भक्त बहुत शीघ्र धर्म की मूर्ति बन जाते हैं और सदा एकरस रहनेवाली कल्पना शून्य परम शान्ति को प्राप्तकर आनन्दमय हो जाते हैं, मेरे इस कथन को तुम सत्य से संशोधित समझो कि मेरे भक्त भ्रष्ट नहीं होते और न वे नष्ट ही होते, जैसे सूर्य में बादल आ जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता और न रात्रि का प्रवेश होता वैसे ही मेरे भक्तों पर विधिवश कुसंग का प्रभाव पड़ने पर भी वे नष्ट नहीं होते।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

बन्धु । मेरी.भक्ति के विषय में कहना ही क्या है ? मात्र मेरी शरणागति करके स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि वाले भी जो कोई हों परमगति को प्राप्त करते हैं क्योंकि मैं शरणागत चेतन के समस्त पाप सम्मुख होते ही नष्ट कर देता हूँ , तथा सारे शोकों का शमन कर उसे अपना अभय पद देने में किंचित् संकोच नहीं करता, जीव की आर्तिपूर्ण प्रपत्ति, उसे उठाकर अपने अंग में लेने के लिये मुझे बाध्य कर देती है, अतएव वह परमगति के पाने का पूर्ण अधिकारी हो जाता है, सर्वाधिकारिणी प्रपत्ति का एक यह अद्भुत प्रभाव है कि मृत्यु समय में उसे मेरा स्मरण करने की कोई विधि एवं आवश्यकता नहीं है, उस समय मैं ही अपने आश्रय में आने वाले चेतन का स्मरण कर उसे परम पद में ले जाता हूँ।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्वमाम्।।३३।।

बन्धु ! जब पाप योनि वाले भी मेरी शरण ग्रहण कर परमगति को प्राप्त कर लेते हैं, तब पुण्यशील ब्राह्मणजन और भक्तिभाव से सम्पन्न राजर्षि लोग परम पद को प्राप्त करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसलिये सुख शून्य और क्षण भंगुर इस शरीर को प्राप्त होकर इसमें आनन्द और बहुत दिन जीने की आशा मत करो। इसका प्रयोजन मात्र इतना है कि जितने दिन तुम इस शरीर में रहो उतने दिन तक निरन्तर मेरा भजन करते रहो क्योंकि भजन बिना शरीर के नहीं होता और बिना भजन के जीना परमात्म प्राप्ति के उपायभूत देव दुर्लभ शरीर को प्राप्त कर नरक की गहरी खाई को और खोदना है। अस्तु मेरे वचनों का सम्मान करके मेरे भजन में परायण बने रहो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

सखे ! मेरी इच्छा एवं मेरे कथन के अनुसार मुझ पूर्णतम परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में अनन्य प्रीति के द्वारा अपने मन को इतना लगा दो कि तुम्हारा मन तुम्हारे पास न रहे, मुझ में विलीन हो जाय, अर्थात् मेरे में आसक्त मन वाले होकर मेरे कैंकर्य परायण बने रहो। मेरे भक्त हो जाओ अर्थात् परमैकान्तिक भक्तों की रहनि, गहनि, कथनि और करनि को अपना कर मेरे नाम, रूप, लीला और धाम में अत्यन्त अभिरुचि उत्पन्न कर तदनुभव करते रहो, अनन्य प्रयोजनत्व के साथ मेरे सुख में सुख तथा मेरी इच्छा में इच्छा वाले बनो, यही भक्त के लक्षण हैं तथा मेरी पर, व्यूह, विभव अन्तर्यामी और अर्चावतार इत्यादि पंच अभिव्यक्तियों की पूजा शरीर, मन, धन से यथाशक्ति निष्काम भाव से करते रहो, सर्व समर्पण के साथ श्रद्धाभक्ति से सम्पन्न होकर प्रेम विह्वल बने रहना मेरी परम पूजा है मुझ

सच्चिदानन्दघन वासुदेव को सर्वान्तर्यामी समझकर सबको मन से प्रणाम किया करो और उपर्युक्त मेरे पंच स्वरूप के प्रकार एवं मेरे भक्तों को तथा गुरूजनों को मेरा स्वरूप समझ साष्टांग प्रणिपात मन वचन और शरीर से किया करो। इस प्रकार मेरे कथन को स्वीकार करके मेरे आश्रय (शरण) में रहते हुए भक्ति योग से युक्त मेरे परायण बने रहोगे तो निःसंदेह तुम मुझ पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लोगे अर्थात् मेरे परमधाम में जाकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त होगे।

तात्पर्यार्थः

पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान अपने आप में पूर्ण एवं स्वयं में स्थित हैं, उनसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, सम्पूर्ण भूत उन्हीं के संकल्पाधार के अनुसार उनमें स्थित हुये से दिखाई देते हैं यह उनके योगैश्वर्य की महानता का द्योतक है, अतएव भक्तप्रिय भगवान के भजन कीर्तन अर्थात उनके श्री नाम का निरन्तर जप रूप का ध्यान, लीला का चिन्तन, धाम में अनुराग चलता रहे, भक्तिपूर्वक भक्त, भगवान और भगवत स्वरूप जगत को प्रणाम करता रहे तथा प्रभु में आसक्त मन वाला बनकर पूजादि के द्वारा भक्ति का संवर्धन करता रहे तो निश्चय है कि ऐसा भक्त परमात्मा के परमधाम को प्राप्त कर उनके साधर्म्य भाव को प्राप्त होगा। अन्याराधन परमात्म प्राप्ति का विरोधक है, जान कर जीव को सर्वभावेन परमात्मा के प्रेम पथ का अनुसरण कर संसार से अपने को मुक्त कर लेना चाहिये, यही नवमें अध्याय गीता में कथित भक्ति प्रिय भगवान के वचनों का सारतम सन्देश है।

"दशम्—अध्याय"

श्री भगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

भगवान श्यामसुन्दर अपने भक्त से अपने हृदय को छिपाने में सदा असमर्थ हैं, चाहे वह वार्ता जितनी ही रहस्यमयी क्यों न हो, वे भक्त के लिये कुछ अदेय नहीं समझते, अतएव भगवान श्री कृष्ण बोले हे सखे ! मैं पुनः तुमसे राहस्यिक श्रेष्ठ वार्ता को कहता हूँ, समाहित चित्त से सुनो, तुम्हारा मुझपर प्रेम प्रावण्य है और मेरे हृदय में जो तुम्हारा हित चाहने की अति कामना है, दोनों मिलकर तुमसे सारे रहस्यों को खोल देने के लिये मुझे बाध्य कर रहे हैं।

अस्तु वक्ता और श्रोता का सम्बन्ध उक्त प्रकार का होने से ही परमार्थ की प्राप्ति होनी संभव है।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

हे बन्धु ! लीलामय स्वयं मैं अपनी लीला को ही निमित्त बनाकर प्रकट होता हूँ, किन्तु मेरी इस विभूति सहित उत्पत्ति को न देवता लोग जानते ओर न महर्षिगण ही जानते हैं, क्योंकि मैं सबका पूर्वज हूँ सभी देवों और महर्षियों का कारण हूँ, मैं ही इनके आदि में था मध्य में भी हूँ और अन्त में भी रहूँगा। वर्तमान को अतीत की जानकारी कैसे संभव हो सकती है ? आज का बच्चा अपने आदि पूर्वज को क्या समझ सकता है कि वे कब और कैसे उत्पन्न हुये थे।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

सखे ! जो मुझको अजन्मा अर्थात जो किसी का कार्य नहीं है अतएव किसी से होता नहीं है, स्वयं सबका कारण है और अनादि है तथा लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर करके तत्वतः जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानवान है, इसलिये मेरे ज्ञान मात्र से सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य उदय होने से बिना श्रम के संसार का अन्धकार नष्ट हो जाता है ऐसे ही मेरे ज्ञान मात्र से अज्ञानजन्य पाप समूहों से पुरुष मुक्त हो जाता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमःशमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

बन्धु ! बुद्धि, तत्वज्ञान, सम्मोहमुक्ति, क्षमा, सत्य, दम, (इन्द्रिय निग्रहशम (मनोनिग्रह) तथा सुख–दुःख, उत्पत्ति–प्रलय, भय–अभय और अहिंसा, समता, संतुष्टि, तप, दान, यश और अयश इत्यादि प्राणियों के नाना प्रकार के भाव मेरे से ही उत्पन्न होते हैं जैसे समुद्र से ही लहर, बुदबुद फेन, बूँद आदि उत्पन्न होते हैं वैसे ही मुझसे उत्पन्न हुये सभी भावों को समझो। अस्तु—–मैं ही सबका कारण हूँ यह बात तुम्हारे समझ में आ जानी चाहिये।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्‌भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

हे सखे ! सप्त महर्षि और उनसे भी पूर्व उत्पन्न होने वाले सनकादि चार भ्राता तथा स्वयं–भुव आदि चौदह मनु जो मेरे ही भाव हैं, वे सब मेरे मनके संकल्प से उत्पन्न हुये हैं, जिनकी लोक में यह सम्पूर्ण प्रजा

है। मेरा संकल्प ही सृष्टि है, इसलिये संकल्प और सृष्टिकाल में अन्तर नहीं पड़ता कुलाल को संकल्पानुसार बर्तन बनाने में कुछ विलम्ब होता है क्योंकि बर्तनों का उपादान कारण मिट्टी, निमित्त कारण स्वयं कुम्भकार और सहकारी कारण चक्र व दण्ड आदि हैं, जो एक दूसरे से पृथक हैं तीनों को एकत्रित करने में समय लगना स्वाभाविक है किन्तु सृष्टि का उपादान, निमित्त और सहकारी कारण मैं स्वयं संकल्पकर्ता हूँ इसलिये इसमें विलम्ब नहीं होता।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

बन्धु ! उक्त प्रकार से जो पुरुष मेरे परमैश्वर्य के (विभूति को) और मेरी योग शक्ति को तत्त्वतः जानता है। वह अचल मन वाले ध्यान योग के अभ्यास से मेरे ही में स्थित हो जाता है, इसमें नाम मात्र संशय नहीं है जैसे कीट भृंग के ध्यान से भृंग के आकार का हो जाता है, वैसे मेरे में मन लगाने वाले पुरुषों की गति के विषय में भी समझो।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

सखे ! यह बात तुम हृदय में दृढ़ करके धारण कर लो कि मैं सच्चिदानन्दघन पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत में उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझ वासुदेव से ही सारा संसार चेष्टित है, इस प्रकार से तत्वतः मुझे जानकर मेरी श्रद्धा और भक्ति से बुद्धिमान पुरुष भर जाते हैं जिससे उन्हें मेरे भजन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता। स्वर्ण शैल में सोना ही सोना है अर्थात वह सोने-सोने से ही बना है जानकर बुद्धिमान पुरुष स्वर्ण प्राप्ति के लिये सदा स्वर्ण शैल को ही भजता है, उसी प्रकार परमात्म ज्ञान हो जाने पर परमात्म प्राप्ति के लिये बुद्धिमान पुरुष परमात्मा का ही भजन करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।९।।

सखे ! भजन प्रिय मेरे भक्तों का चित्त मुझको छोड़कर अन्य का चिन्तन कभी नहीं करता अतएव उनका चित्त मेरे आकार का हो जाता है, मेरा स्मरण क्षण भर के लिये यदि विस्मरण हो जाता है तो उनके प्राण छटपटाने लगते हैं अतएव वे मेरे ही में अपने प्राणों को समर्पित किये रहते हैं अर्थात मेरे वियोग में वे प्राणों को सहने में समर्थ नहीं होते, भक्त परस्पर मेरे नाम, रूप, लीला, धाम और गुणों की चर्चा करके प्रेम में भर जाते हैं तथा इसी माध्यम से एक दूसरे को मेरा बोध कराया करते हैं। इस प्रकार से वे मेरे गुणानुकथन को नित्य नियम से किया करते हैं क्योंकि उनके रमने तथा सन्तुष्टि पाने का स्थान मात्र मैं और मेरी कथा ही हैं, जगत में वे न रमते हैं न उत्साही ही होते हैं, अमृत स्वरूप अनल्प आनन्द सिन्धु को प्राप्तकर मृत स्वरूप अल्प और दुःखस्वरूप संसार सुख की दुर्गन्धित खांई में एक अज्ञानी अर्थात आत्म हन्ता के अतिरिक्त कौन रमेगा ? अतएव मेरे भजन के आनन्द की अनुभूति हो जाने पर भक्त का मन कहीं न रमना स्वाभाविक हो जाता है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

बन्धु ! निरन्तर तैलधारा वत् न टूटने वाले मेरे ध्यान में निमग्न होकर प्रेमाभक्ति पूर्वक भजन करने वाले भक्त मेरी कृपा प्राप्त करने के पूर्ण अधिकारी हो जाते हैं, इसलिये तत्व ज्ञान स्वरूप बुद्धि योग को उन्हें प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे को ही प्राप्त हो जाते हैं अर्थात परमपद स्वरूप मुझको प्राप्त करते हैं वास्तव में अपनी प्राप्ति के उपाय स्वयं भगवान हैं जिसको वे वरण कर लेते हैं, उसके हृदय में अपने को पहिचानने का ज्ञान भी प्रदान करते हैं, जो दूध देता है वह पात्र भी देता है जिससे पीने वाले को कोई कठिनाई का अनुभव न करना पड़े।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

सखे! अपने प्रेमी भक्तों पर कृपा करने के लिये ही मैं अन्तर्यामी रूप से उनकी आत्मा ही में घुलामिला हुआ स्थित रह कर उनके अज्ञानजन्य अन्धकार को तत्वज्ञान स्वरूप प्रकाशमय दीपक के द्वारा नष्ट करता हूँ। अर्बों खर्बों वर्षों से अन्धकारमयी गुफा में दीप जाते ही जैसे प्रकाश छा जाता है वैसे ही अनन्त काल में अविद्या अन्धकारछन्न जीव भगवत् कृपा से ज्ञान के उदय होते ही उस अज्ञानान्धकार को नष्ट होते देर नहीं लगती।

अर्जुन उवाच :—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषंशाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

इस प्रकार भगवान वासुदेव के वचनों को श्रवण कर अर्जुन ने कहा, भगवान्! आप श्री ही परब्रह्म हैं और आप श्री ही परम धाम हैं अर्थात् ब्रह्म और धाम आपके ही विशेषण हैं, आप परम पवित्र हैं, अर्थात् आप श्री के नामोच्चारण मात्र से बड़े–बड़े पापी पवित्र हो जाते हैं, इतना ही नहीं दूसरे को भी पवित्र बनाते हैं, देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास आदि महर्षिगण आपकी सनातन दिव्य महापुरुष, देवों के भी आदि देव, अजन्मा और महान से महान सर्व व्यापक बतलाते हैं और स्वयं आप भी मुझसे अपने को परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम भगवान कहते हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

हे केशव! मैं आपके वचनों में किंचित अविश्वास नहीं करता, जो कुछ

भी मेरे प्रति आपका कथन होता है उस सबको मैं सत्य का साकार स्वरूप समझता हूँ किन्तु आपके लीलामय सगुण साकार स्वरूप को न दानव जानते और न देवता ही जानते। नट की कला को जैसे कोई देखने वाले नहीं समझ पाते वैसे ही भगवान की लीला को जगत नहीं जान पाता है। सखे ! आपको वही समझ पायेगा जिसको आप स्वयं कृपा कर समझा देंगे।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

हे भूतभावन ! हे सम्पूर्णभूत समुदाय के ईश्वर ! हे देवताओं के देव ! हे जगत के स्वामी ! हे पुरुषोत्तम भगवान ! वास्तव में यथातथ्य आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते है, जिसे जना देते हैं, वहाँ भी अर्थात् उस भक्त के हृदय में स्थित होकर अपने से अपने को जानते हैं क्योंकि एकमात्र ज्ञान स्वरूप आप ही हैं।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोका निमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

अतएव हे भगवन् ! अपनी दिव्य विभूतियों को अशेषतया कहने में आप ही समर्थ हैं। आपके अतिरिक्त अन्य किसी देवी, देव में वह योग्यता नहीं, कि उनके द्वारा आपकी विभूतियों पर पूर्ण प्रकाश डाला जा सके, अहो ! उन विभूतियों की महत्ता ऐसी है कि जिनके द्वारा इन सब लोकों को व्याप्त करके आप स्थित हैं। जब एक साधारण संसारी नट का खेल तथा उसकी माया विभूति लोक के समझ में सहज नहीं आती तब परम योगेश्वर विभूति नायक परब्रह्म परमात्मा की लीला विभूति को इदमित्थं कैसे समझा जा सकता है।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

हे योगेश्वर ! निरन्तर आप श्री का चिन्तन करते हुये किस प्रकार से आपको जानूँ अर्थात् आपका अपरोक्ष पूर्ण बोध प्राप्त कर सकूँ, साथ ही यह भी कृपाकर बतलायें कि आप किन किन भावों में मेरे द्वारा चिन्तन के विषय बनने योग्य हैं, आपके द्वारा समाधान को प्राप्त कर मैं स्वयं बोध स्वरूप बन जाऊँगा इसमें कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, आप ऐसे आचार्य की प्राप्ति संसार में दुर्लभ है और यदि हो गयी तो वह अमोघ होगी, प्राप्त करने वाला अपने आचार्य का प्रतिरूप हो जायेगा।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

इसलिये हे प्रभो ! अपनी योगशक्ति और योगैश्वर्य को पुनः विस्तारपूर्वक कहने की कृपा करें क्योंकि आप श्री के मुखचन्द्र से विनिसृत अमृतमय वचनों के पीने से श्रवणों को तृप्ति नहीं हो रही है अर्थात इन्हें श्रवण करा कर तृप्ति की अनुभूति करायें। वास्तव में भगवान के मुख, होंठ, जीह, वचन सब सुधा से संसिक्त हैं अर्थात् अमृतस्वरूप हैं, अतएव अमृतानन्द का लोभी पुरुष उनके अनुभव से अवकाश लेने का स्वप्न नहीं देखता है यदि देखता है तो उसे अमृत रस की पूर्ण अनुभूति सुख की जानकारी नहीं है।

श्री भगवानुवाच :—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान कृष्ण बोले, बन्धु ! आप विस्तार पूर्वक मेरी विभूतियों को श्रवण करना चाहते हैं। अहो ! मेरी विभूतियों का अन्त जब अनन्त को नहीं मिल सकता तो फिर कैसे मैं अपनी विभूतियों का वर्णन विस्तारपूर्वक करने में समर्थ हो सकता हूँ। इसलिये प्रधान प्रधान

विभूतियों का वर्णन करूँगा। भैया ! अनन्त का सब अनन्त होता है, अतएव अनन्त भी अनन्तकाल तक यदि अनन्त विभूतियों का वर्णन करना चाहे तो वह भी असफल ही रहता है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

हे सखे। सबके हृदय देश में स्थित सबका आत्मा मैं ही हूँ, जैसे सब घटों में प्रतिबिम्बित सूर्यों का आत्मा सूर्य है वैसे ही मुझे समझो। इसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों के आदि मध्य और अन्त में मैं ही रहता हूँ अर्थात् भूतों के पहिले मैं ही था भूतों के बनने पर मैं ही उनमें समाया रहा और उनके विनाश होने पर भी मैं ही शेष रहता हूँ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

बन्धु ! अदिति के द्वादश पुत्रों में विष्णु अर्थात् वामन अवतार मैं ही हूँ, किरण बिखरने वालों में मैं ही सूर्य हूँ, उनचास वायुओं में मरीचि नामक वायु मैं ही हूँ और नक्षत्रों में तारापति चन्द्रमा मैं ही हूँ। सृष्टि के हेतु सूर्य चन्द्र जिन्हें उपनिषद में प्राण और रयि नामक दो तत्वों के रूप में कहा है, वायु ही बर्हिप्राण है ये सब प्रभु की ही महान विभूतियाँ हैं, वामन रूप में स्वयं भगवान अवतार लिये ही थे।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

वेदों में सामवेद और देवताओं में इन्द्र मैं ही हूँ तथा इन्द्रियों में मन और भूत प्राणियों में चेतनाशक्ति, जिससे सब भूतचेष्टित रहते हैं, मैं ही हूँ।

रुद्राणांशंकर श्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिख रिणामहम्।।२३।।

सखे ! एकादश रुद्रों में शंकर मैं ही हूँ, यक्ष और राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर मैं ही हूँ, अष्ट वसुओं में अग्नि और शिखर वालों में सुमेर पर्वत मैं ही हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

बन्धु ! पुरोहितों में श्रेष्ठ पुरोहित बृहस्पति मुझको ही जानो, तथा सेनापतियों में स्वामि कार्तिक और जलाशयों में समुद्र मैं ही हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

बन्धु ! महर्षियों में भृगु और वाणी के विकास में एक अक्षर अर्थात् श्रेष्ठ ओंकार को मुझे ही समझो तथा सब प्रकार के यज्ञों के जप यज्ञ और अचल रहने वालों में अर्थात् पर्वतों में हिमालय मैं ही हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

बन्धु ! सम्पूर्ण वृक्षों में अश्वत्थ पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि मैं ही हूँ।

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि ममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

हे सखे ! घोड़ों में उच्चैःश्रवा जो अमृत से उत्पन्न हुआ था, गजेन्द्रों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा मुझको ही समझो।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

हे बन्धु ! आयुधों में वज्र, गौओं में कामधुने मैं ही हूँ तथा शास्त्ररीत्या संतान उत्पत्ति का हेतु कामदेव मैं ही हूँ और सर्पों में वासुकि मैं ही हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

भद्र ! नागों में अनन्त नामक शेषनाग मैं ही हूँ, जलचरों, में वरुण देवता हूँ और पितरों में अर्यमा यथाशासन करने वालों में साक्षात यमराज मैं ही हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

सखे ! दैत्यों में भक्त प्रहलाद, कलना करने वालों में काल् पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ मैं ही हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

पावन बनाने वालों में पवन, शस्त्रधारियों में राम (परशुराम) हूँ तथा मछलियों में मकर और नदियों में भागीरथी गंगा मैं ही हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

हे बन्धु ! सृष्टियों का आदि मध्य और अन्त मैं ही हूँ अर्थात् इनके आदि मध्य और अन्त में मेरे प्रतिष्ठित रहने से ही–सृजन, संरक्षण और संहार होता है, विद्याओं में अध्यात्म विद्या जो भव बन्धन से मुक्त कराने वाली होती है मैं ही हूँ और परस्पर विवाद कराने वालों में तत्व निर्णयात्मक वाद मैं ही हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः।।३३।।

सखे ! अक्षरों में अकार, समासों में द्वन्द्व नामक समास तथा अक्षय काल और विराट् स्वरूप सबका धारण पोषण करने वाला धाता मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधाधृतिः क्षमा।।३४।।

सबका नाश करने वाला एवं भविष्य में होने वालों की उत्पत्ति का कारण साक्षात मृत्यु मैं ही हूँ। स्त्रियों में अथवा गुणों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मुझको ही जानो।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

बन्धु गायन करने योग्य श्रुतियों में बृहत्साम और छन्दों में गायत्री तथा महीनों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं में प्रसून प्रभवकारी ऋतु मुझको ही जानो।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

बन्धु ! छल करने वालों में जुआ और प्रभावशाली व्यक्तियों का प्रभाव मैं ही हूँ तथा जीतने वालों का विजय, निश्चय करने वालों का निश्चय और सात्विक पुरुषों का सात्विक भाव मैं ही हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

सखे ! वृष्णि वंशियों में वासुदेव अर्थात् तुम्हारा सखा हूँ और पाण्डवों में धनंजय अर्थात् तुम, मैं ही हूँ, तथा मुनियों में व्यासदेव और कवियों में शुक्राचार्य कवि भी मुझको ही समझो।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

दमन करने वालों का दण्ड अर्थात् दमन करने की शक्ति मैं ही हूँ और जीतने की इच्छा रखने वालों की नीति भी मैं ही हूँ तथा गुप्त रखने योग्य भावों में मौन और ज्ञानियों का ज्ञान मैं ही हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३६।।

हे सखे! सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति का बीज अर्थात् कारण भी मुझे ही समझो क्योंकि संसार में कोई चर व अचर प्राणी नहीं है जो मेरे से रहित होवे अर्थात् मेरी सत्ता से ही यह चराचर जगत सत्य प्रतीत हो रहा है, इसलिये यह सब मेरा ही स्वरूप है।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एषं तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरोमया।।४०।।

हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है मेरे द्वारा कथित मेरी विभूति का उक्त विस्तार एक देश से अर्थात् स्वविभूति के एक अंग से कहा हुआ समझो, भाव यह कि संक्षेप ही में कहा है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।।४१।।

बन्धु! विभूति विस्तार अवर्णनीय है, तुम्हें यह जान लेना चाहिये कि जो जो विभूति युक्त अर्थात् ऐश्वर्य युक्त, कान्ति युक्त, शक्ति युक्त, श्री युक्त, ज्ञान युक्त, प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियाँ दिखाई पड़ें उन, उनको तुम मेरे तेज के अंश से उत्पन्न समझो।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

सखे! यह बहुत जानकर क्या करोगे? तुम केवल यह दृढ़ता पूर्वक ज्ञान कर लो कि मैं इस सारे चराचर जगत को अपनी योग माया के एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ—अतएव मुझको तत्वतः तुम्हें जान लेना चाहिये क्योंकि एकमात्र मेरे ज्ञान से सबका ज्ञान प्राप्त हुआ समझना चाहिये, दूध के ज्ञान से जैसे दही, मक्खन, घृत और मट्ठे का ज्ञान दूर नहीं रहता उसी प्रकार मेरे विषय में भी वार्ता लागू है।

तात्पर्यार्थ :—

यह चराचर जगत परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की लीला विभूति है और उन्हीं की योग माया के एक अंश से धारण किया गया स्थित है, भगवान भी सभी भूत प्राणियों में स्थित हैं उन्हीं की सत्ता से सब सत्तावान हो रहे हैं, अतएव सब संसार भगवत् स्वरूप ही है, परमात्मा से सारा संसार बना है तथा उन्हीं से चेष्टित है, ऐसा जान कर प्रभु में परम स्नेह युक्त हो जाना चाहिये, जो श्रद्धा भक्ति से भरपूर होकर प्रभु का निरन्तर चिन्तन करता तथा उनके विस्मरण से प्राणों को नहीं सहता और परस्पर भगवत् प्रेम की गाथा कह सुन कर परमात्म स्वरूप का ज्ञान करता है व करवाता है, वह प्रभु कृपा का पात्र बन कर परमात्म प्राप्ति निःसन्देह कर लेता है, यही भगवत् गीता के दशमें अध्याय का सारतम सन्देश है।

एकादश अध्याय

अर्जुन उवाच :

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

भगवान के अमृतोपम उपदेश को सुनकर अर्जुन बड़े सुखी हुये और बोले, भगवन् ! मुझ पर अनुग्रह करने के लिये अध्यात्म विषयक परम गोपनीय उपदेश आप श्री के श्री मुख द्वारा जो कहा गया है, उसे श्रवण कर मेरा मोह उसी प्रकार नष्ट हो गया है, जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार दूर हो जाता है। वास्तव में प्रभावशाली सद्गुरु ही जो स्वयं अध्यात्म की पराकाष्ठा में स्थित हैं, मुमुक्षु जीव के हृदय का अज्ञान दूर करने में समर्थ होते हैं।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

हे कमलनेत्र ! भूतों की उत्पत्ति और प्रलय आप श्री से विस्तार पूर्वक मैंने सुना है, साथ ही आपका अविनाशी प्रभाव भी सुना है। अर्थात् संसार के भूत समुदाय की उत्पत्ति और विनाश बारम्बार होता ही रहता है, इससे यह विनाशशील है, एक मात्र अविनाशी आप हैं जो जगत के मूल कारण हैं और इसके आदि मध्य और अन्त में आप ही प्रतिष्ठित रहते हैं, यह खूब समझ गया हूँ।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

हे परमेश्वर ! आप अपने को जैसा निरूपण करते हैं, वह ठीक ऐसा ही है अर्थात् आपके कथन में कोई अत्युक्ति नहीं, परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान का स्वरूप ऐसा ही है जैसा कि आप श्री का, परन्तु हे पुरुषोत्तम भगवान ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल वीर्य, और तेज से युक्त स्वरूप को अपनी आँखों का विषय बनाना चाहता हूँ, आप कृपा सिन्धु जन मन रंजन हैं, अतएव मेरी प्रार्थना पर ध्यान देंगे ऐसी आशा है।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

हे योगेश्वर ! आपके स्वरूप का दर्शन मुझ जैसे व्यक्ति को भी हो सकता है, यदि यह बात आप स्वीकार करते हैं तो आप अपने अविनाशी स्वरूप का दर्शन कराने की कृपा करें, आप सर्व समर्थ प्रभु हैं और योगैश्वर्य के ईश्वर हैं, आपके लिये यह सब सुगम है और मुझ साधन हीन के लिये अगम्य है, कृपा का ही सहारा है।

श्री भगवानुवाच :–

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

इस प्रकार अपने सखा अर्जुन की प्रार्थना से प्रसन्न होकर कृपासिन्धु भगवान बोले, हे पार्थ ! लोग मुझे भक्तवाञ्छा कल्पतरु कहते हैं, अस्तु तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी तुमने अपने प्रेम से मुझे अपने आधीन कर लिया है। मेरे सैकड़ों तथा हजारों नाना प्रकार के नाना वर्ण व आकृति वाले अलौकिक रूपों को देखो। परमात्मा का दर्शन उसी को होता है जिसे वह वरण कर लेता है, प्रभू ने अर्जुन को अपना लिया है, अतएव नीचों के मध्य गीता ज्ञान के साथ अपने रूप का दर्शन भी प्रदान करने को भगवान उद्यत हो गये।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

हे भारत ! मेरे में अदिति के द्वाद्वश पुत्रों कों, अष्ट वसुओं को, और एकादश रुद्रों को तथा अश्वनी कुमारों को और उनचास मरुद्गणों को देखो एवं पहले कभी न देखे गए आश्चर्यमय रूपों को देखो।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

हे सखे ! अब मेरे शरीर ही में एक स्थान पर स्थित चराचर जगत को देखो, इसके अतिरिक्त जो कुछ अन्य भी देखने की इच्छा हो, उसे भी देखो।

न तु मांशक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

संजय उवाचः—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।६।।

परन्तु हे सखे ! मेरे रूप को तुम इन अपने चर्म चक्षुओं से देखने मे समर्थ निःसंदेह नहीं हो, इसलिये मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ जिससे तुम मेरे प्रभाव (विभूति) और योगशक्ति का दर्शन भली भाँति कर सकोगे। जैसे चश्मा लगा लेने से कमजोर आँखों में भी देखने की शक्ति बढ़ जाती है उसी प्रकार अलौकिक वस्तु को देखने के लिये भगवान अलौकिक नेत्र शक्ति को अर्जुन के नेत्रों में समाविष्ट कर दिये तो वही आँखें भगवान के आश्चर्यमय रूप को देखने में समर्थ हो गईं। इस प्रकार अर्जुन से कहकर महायोगेश्वर हरि भगवान जो भक्तों के पापों और दुःखों का सर्वथा विनाश कर देते हैं, श्री अर्जुन की इच्छा पूर्ति के लिये परम ऐश्वर्य से युक्त अपने दिव्य रूप का दर्शन कराया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।
दिव्य माल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

वह दिव्य स्वरूप अनेक मुख और अनेक नेत्रों से युक्त अनेक प्रकार से अद्भुत दर्शन वाला था, बहुत से दिव्य आभूषणों से युक्त और बहुत से दिव्य शस्त्रों को हाथों में उठाये हुये था तथा दिव्य सुन्दर माला और वस्त्रों को धारण किये हुये दिव्य गंधों के अनुलेपन से युक्त था। ऐसा वह चन्दन चर्चित चारु स्वरूप सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त असीम विराट स्वरूप को अर्जुन ने देखा और यह जाना कि यह साक्षात परब्रह्म परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान हैं।

दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा हे राजन! आकाश में सहस्र सूर्यों के उदय होने से जो प्रकाश की सम्भावना हो वह भी उन विश्वरूप परब्रह्म परमात्मा के प्रकाश के समान कदाचित ही हो सकती है अर्थात् हजारों सूर्यों का प्रकाश परमात्म प्रकाश के आगे नगण्य ही रहेगा।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्त मनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।।१४।।

उस समय अर्जुन ने देव देव श्रीकृष्ण भगवान के शरीर में एक स्थान–स्थित सम्पूर्ण जगत को बहुत विधि से विभक्त अर्थात् पृथक्–पृथक् देखा–भाव यह है कि सात ऊपर के और सात नीचे के लोकों को उनके खण्डों सहित देखा–वन, पर्वत, नदी, समुद्र, पृथ्वी आदि को अनेकों भेदों

से देखा। उसके पश्चात् वे आश्चर्य में भरकर एवं हर्ष से पूर्ण होकर रोमाञ्चित हो गये और श्रद्धा–भक्ति समन्वित सिर से विश्वरूप भगवान को प्रणाम करके हाथ जोड़े हुये बोले।

अर्जुन उवाच :—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ–मृषींश्च सर्वानुरागांश्च दिव्यान्।।१५।।

भगवन! आपके श्री शरीर में सम्पूर्ण सुरगणों को तथा अनेकानेक भूतों के समुदायों को और कमल के आसन पर स्थित ब्रह्मदेव को एवं सम्पूर्ण ऋषियों तथा दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

हे विश्वरूप ! हे विश्वेश्वर ! आप श्री को अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रों से युक्त देख रहा हूँ तथा सब ओर से आपके अनन्तानन्त रूपों का दर्शन कर रहा हूँ, आपके आदि मध्य, और अन्त को नहीं देख पा रहा हूँ, अर्थात् आप सर्वभावेन अनन्त हैं।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता–दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।१७।।

हे विष्णो ! आप श्री को मैं तेजोमय मुकुट को धारण किये हुये तथा गदा, चक्र आदि आयुधों को हाथ में लिये हुये सब ओर से प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के राशि राशि प्रकाश के सदृश ज्योति के पुंजीभूत रूप में देख रहा हूँ, अहो! आपके दिये हुये दिव्य नेत्रों से भी यह आपका स्वरूप दुर्निरीक्ष्य हो रहा है, इस अप्रमेय आपके स्वरूप को सब ओर से उसी प्रकार से देख रहा हूँ जैसा कि मैंने आपसे निवेदन किया है। भगवान के सब ओर मुख, हाथ, पेट, कटि और पाँव दिखाई दे रहे थे अस्तु जिधर से देखे

उधर से ही आश्चर्यमय प्रकाश का पुंजीभूत स्वरूप दिखाई दे रहा था।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।।१८।।

हे प्रभो ! आप ही ज्ञेय स्वरूप परम अक्षर तत्व अर्थात् अविनाशी परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत के परम आश्रय हैं अर्थात यह आपसे उत्पन्न होता है आप ही में स्थित रहता है और आप ही में विलीन हो जाता है, तथा आप ही शाश्वत भगवद्–धर्म के रक्षक हैं और आप ही सनातन महापुरुष हैं अर्थात इस जगत के आदि, मध्य और अन्त में आप ही एक रस प्रतिष्ठित रहने वाले परम तत्व हैं, ऐसी मेरी मान्यता है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य मनन्तबाहुं शशिसूर्य नेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१६।।

हे प्रभो ! आपके इस विराट स्वरूप का मैं आदि मध्य और अन्त नहीं पा रहा हूँ, आपकी शक्ति अचिन्त और अनन्त है, आप अनन्त हाथों से युक्त तथा चन्द्र सूर्य स्वरूप नेत्रों वाले और प्रज्वलित अग्निमुख वाले दिखाई दे रहे हैं, अहो ! आश्चर्य अपने तेज से इस जगत को तपायमान करते हुये मेरे नेत्रों का विषय बन रहे हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वी का मध्यवर्ती भाग अर्थात् सम्पूर्ण अन्तरिक्ष सब दिशाओं के सहित एक आप से ही परिपूर्ण हैं अर्थात नीचे पृथ्वी ऊपर आकाश का अन्त ही आपके इस स्वरूप की सीमा है बीच का आकाश आपके श्री अंगों से निरवकाश संज्ञा को प्राप्त हो चुका है। हे प्रभो ! आपका यह अद्भुत और भयंकर स्वरूप देखने मात्र से तीनों लोकों को अति व्यथा उत्पन्न कर रहा है अर्थात आपके इस स्वरूप को

देखने में कोई सक्षम नहीं हो रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीता प्राञ्जलयोगृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

हे प्रभो ! देवताओं के समूह आप ही में प्रवेश कर रहे हैं और कोई कोई भयभीत होकर हाथ जोड़े हुये आपके नाम व गुणों का कीर्तन कर रहे हैं, तथा महर्षियों और सिद्धों के समुदाय जयकार के साथ आपका मंगलानुशासन कर रहे हैं साथ ही उत्तम उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं, अर्थात् ये सब आपको परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान मानकर मेरी मान्यता की पुष्टि कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

हे परमात्मन् ! एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, साध्य गण, विश्वदेव, अश्विनी कुमार, मरुतगण, पितरों के समूह, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्ध गणों के समुदाय ये सबके सब विस्मित हुये आपको आश्चर्यमय देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

हे महाबाहो आपके बहुत मुख और नेत्रों से युक्त तथा बहुत बाहु, जंघा, और पैरों से युक्त एवं बहुत से उदरों से युक्त तथा बहुत से विकराल दाढ़ों से युक्त आपके महान रूप को देखकर सर्वलोक व्याकुल हो रहे हैं और मैं तो बहुत ही घबड़ाया हुआ हो गया हूँ। भगवन् भय के भूत ने सबको आधीन कर लिया है। अतएव हे दयालो ! आप संसार को सुखी करने की कृपा करें।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णंव्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमंच विष्णो।।२४।।

हे विष्णो ! अनेक वर्णों से युक्त दैदीप्यमान फैलाये हुये आकाश स्पर्शी मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर व्यथित अर्थात् भयभीत अन्तःकरण वाले मुझको न धैर्य हो रहा है और न शान्ति, अर्थात् मैं अधीर और अशान्त मन वाला होकर भय के समुद्र में निमग्न हो रहा हूँ।

दंष्ट्रा करालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

हे प्रभो ! प्रलय काल की अग्नि के समान प्रज्वलित आपके मुखों और विकराल दाढ़ों को देखकर मुझे दिशाओं का ज्ञान नहीं रह गया है, सुख भी मेरा समाप्त हो गया है। इसलिये हे देवेश ! हे जगन्विास ! आप प्रसन्न हों जिससे मैं और यह सारा संसार शान्ति सुख का दर्शन कर सके।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।

हे भगवन् ! साथ ही यह भी देख रहा हूँ कि ये सबके सब धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समूहों के सहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं और भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण तथा हमारे पक्ष के प्रधान प्रधान योद्धा भी आप में प्रवेश कर रहे हैं। आश्चर्य ! महाआश्चर्य !

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ।।२७।।

आप श्री के बड़े विकराल दाढ़ों वाले भयानक मुखों में बड़े वेग से ये सब योद्धा प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुये सिर आदि श्रेष्ठ अंगों से युक्त आपके दांतों के बीच में लगे हुये दीख रहे हैं, अर्थात् जैसे अन्न पाते समय दांतों के बीच चबाया हुआ अन्न फँस जाता है वैसे ही, हे प्रभो ! आपके दांतों में चूर्णिताग्ङ योद्धा फँसे हुये हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाःसमुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

हे विश्वमूर्ते ! जैसे सरिताओं के बहुत से जल के प्रवाह समुद्र की ओर दौड़ते है। अर्थात् समुद्र में समाते जाते हैं वैसे ही वीराभिमानी मनुष्यों के समूह आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्ध वेगाः।।२९।।

हे विश्वात्मन् ! जैसे पंतग मोह के वशीभूत होकर अपने विनाश के लिये अत्यन्त वेग से प्रज्वलित अग्नि में कूद पड़ते हैं, वैसे ही ये सब लोक भी अपने विनाश के लिये आपके मुखों में तीव्र संवेग के साथ प्रवेश कर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

हे विष्णो ! आप अपने प्रज्वलित मुखों से सम्पूर्ण लोकों को ग्रसन करते हुये सब ओर से चाट रहे हैं, आपका परम प्रचण्ड प्रकाश सारे जगत को अपने तेज से परिपूर्ण करके प्रतृप्त कर रहा है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

हे प्रभो ! आप श्री को बार–बार नमस्कार है। हे देव श्रेष्ठ ! आप प्रसन्न होइये और कृपाकर मुझ से बतायें, इस उग्र स्वरूप में आप कौन हैं ? आपके आदि स्वरूप को मैं तत्वतः जानना चाहता हूँ। आपकी प्रवृत्ति वर्तमान समय में क्या है ? मैं नहीं जानता हूँ, अतएव इस प्रार्थी की प्रार्थना पर ध्यान दें।

श्री भगवानुवाच :—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

इस प्रकार अर्जुन की प्रार्थना को श्रवण कर भगवान् बोले, हे अर्जुन! मैं सम्पूर्ण लोकों के नष्ट करने में बड़े वेग से उद्यत हुआ महाकाल हूँ, इसीलिये जो प्रतिपक्षियों के दल में स्थित योद्धा लोग हैं वे सबके सब तुम्हारे युद्ध न करने पर नहीं रहेंगे अर्थात् जो तुम कह रहे थे कि हम इनको न मार सकेंगे, तुम अपने उसी वचन में स्थित रहकर युद्धभूमि से चले भी जाओ तो भी इन सबका विनाश अवश्य हो जायेगा।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

इसलिये हे अर्जुन! तुम युद्ध करने के लिये खड़े हो इनके मारने का निमित्त मात्र बनकर यश को प्राप्त करो तथा शत्रुओं को जीतकर वैभव से परिपूर्ण राज्य का भोग करो। मेरे विश्वरूप का दर्शन करके तुम्हें भी यह दृढ़ निश्चय हो जाना चाहिये कि ये सब तुम्हारे विपक्षी लोग पहले से ही मेरे द्वारा मारे हुये हैं, अतएव हे सव्य साचिन्! तुम केवल निमित्त मात्र बन जाओ, हठ का परित्याग करो, क्षात्र[illegible] को पुरःसर करके बिना अहंकार के मेरा स्मरण करते हुये, मेरी ही प्रीति के लिये युद्ध करो।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

वीरवर! भय मत करो, इन द्रोणाचार्य, भीष्म, जयद्रथ कर्ण तथा और भी बहुत से मेरे द्वारा मारे हुये वीर वरण्य योद्धाओं को तुम मारो, अवश्यमेव तुम अपने शत्रुओं को युद्ध में जीत लोगे, इसलिये क्षत्रियोचित संग्राम करने के लिये तैयार हो जाओ।

संजय उवाच :

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

धृतराष्ट्र से संजय कहते हैं कि केशव भगवान के इस प्रकार के वचनों को श्रवणकर मुकुटधारी अर्जुन करबद्ध काँपते हुये, भगवान कृष्ण को नमस्कार करके पुनः विश्वरूप के भय से भयभीत होकर प्रणाम करने लगे और गद्-गद् वाणी से बोले—जब भगवान स्वयं भयभीत करना चाहते हों तब कोई भी देव व असुर मानव व ऋषि, मुनि ऐसा सामर्थ्यशाली नहीं है जो अपने ज्ञान व धैर्य से अपने को भयभीत होने से बचा सके।

अर्जुन उवाच :

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।।३६।।

हे इन्द्रियों के स्वामी ! यह अपने अपने स्थान में उचित ही है कि आपके नाम और गुणों के कीर्तन से जगत प्रहर्षित एवं अनुरंजित होता है तथा भयभीत हुये राक्षस लोग दिशाओं में भागते हैं और सम्पूर्ण सिद्धगणों के समुदाय आपको बारंबार प्रणाम करते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादि कर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परंयत्।।३७।।

हे विभो ! आप ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता और सबसे श्रेष्ठ और महान हैं, अतएव आपके लिये सिद्ध लोग नमस्कार क्यों न करें, करना ही चाहिये। हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! सत् और असत् से परे जो अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हैं, वह आप ही हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

हे प्रभो ! आप आदि देव और सनातन महापुरुष हैं, आप ही इस जगत के परम आश्रय अर्थात कारण हैं, जैसे लहरों का निधान समुद्र होता है, वैसे ही संसार के निधान पुरुषोत्तम भगवान हैं, आप ही ज्ञेय और ज्ञाता हैं, तथा आप ही परात्पर ब्रह्म और परमधाम हैं, हे अनन्त ! आपसे यह सब जगत परिपूर्ण है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

हे विभो ! आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजापति ब्रह्मा और पितामह ब्रह्मा को भी उत्पन्न करने वाले प्रपितामह हैं, आपके चरणों में मेरा हजारों बार नमस्कार है नमस्कार है, पुनः बारम्बार आपको नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

हे प्रभो ! आप अचिन्त्य और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हैं आपका पराक्रम भी अप्रमेय है। हे सर्वात्म ! आप संसार को भीतर बाहर से व्याप्त किये हुये हैं अतएव सर्वरूप हैं आपके लिये आगे से पीछे और सब ओर से नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथ वाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

हे परमात्मन ! आपको अपना सखा मानकर एवं आपके ऐसे प्रभाव का ज्ञान न रखते हुए प्रेम से अथवा प्रमाद से मैंने हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इत्यादि नामों से हठ पूर्वक सम्बोधित किया है और हे अच्युत ! हँसी के लिये बिहार शय्या, आसन और भोजनादि में अकेले अथवा सखाओं के सामने जो मैंने आपको अपमानित किया है, वे सब अपराध आप क्षमा कर दें ऐसी मेरी प्रार्थना है, आप अप्रमेय हैं अर्थात् जैसे पर्वत बूँदों के आघात को सह लेते हैं उसी प्रकार आप मेरे वचनों व अपराधों पर ध्यान न देंगे, आप काल, कर्म, स्वभाव और गुण के भक्षक हैं अर्थात् अचिन्त्य सामर्थ्यवान हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।४३।।

हे विश्वात्मन् ! आप इस स्थावर जंगम जगत के पिता और गुरु से भी श्रेष्ठ गुरु एवं अति पूज्य हैं। हे अनुपमेय प्रभाव वाले भगवान् ! त्रिलोक में जब आपके समान कोई नहीं है तब आपसे अधिक कैसे हो सकता हे अर्थात् आपके समान आप ही हैं, अतएव सबके सम्माननीय हैं।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

इसलिये हे प्रभो ! स्वशरीर को प्रकर्षतया पृथ्वी पर पड़कर दोनों हाथों से आपके चरणों को पकड़े हुये साष्टांग प्रणिपात करता हूँ और सबके स्तुत्य आप परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे अपने सखा के और पति जैसे अपनी प्रियतमा पत्नी के अपराध को अपने सहिष्णु स्वभाव से क्षमा कर देते हैं, वैसे ही आप हमारे अपराध को क्षमा करें।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

हे देव ! हे जगन्निवास ! पहले जिसका कभी दर्शन न हुआ था ऐसे आश्चर्यमय आपके इस विराटस्वरूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ, परन्तु साथ ही मेरा मन भय से आकुल व्याकुल भी हो रहा है, इसलिये हे भक्त वाञ्छा कल्पतरु ! मुझ पर प्रसन्न होकर आप अपने आनन्दमय चतुर्भुज स्वरूप का दर्शन कराने की कृपा करें।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

हे विश्वमूर्ते ! मैं आपके मुकुट धारण किये हुये तथा गदा, चक्र हाथ में लिये हुये आपके सुन्दर, सौम्य और सुखावह स्वरूप को देखना चाहता हूँ, इसलिये हे सहस्रबाहो ! मुझे जैसे दर्शन पाने की इच्छा है वैसे ही स्वरूप में आप प्रतिष्ठित हो जायँ।

श्री भगवानुवाच :—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

इस प्रकार श्री अर्जुन की प्रार्थना को श्रवण कर श्रीकृष्ण भगवान बोले, हे अर्जुन ! तुम्हारी भक्ति से परम प्रसन्न होकर अपनी योगशक्ति के प्रभाव से तुमको अपने परम तेजोमय आदि और अनन्त विशेषण से युक्त विराट रूप का दर्शन कराया है, तुमसे अतिरिक्त अन्य किसी को कभी भी पहले ऐसा रूप नहीं दिखाया था, इससे इसकी रहस्यमयी महानता और अपने पर मेरे परम प्रसन्नता का अनुसंधान करने योग्य है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

हे अर्जुन ! मनुष्य लोक में विश्वमूर्ति मैं तुमसे अतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा न वेद से, न यज्ञ आदि अनुष्ठानों से न स्वाध्याय से न दान से

न उत्तम क्रियाओं से और न उग्र तपस्या से ही देखा जा सकता, अर्थात् इन साधनों के द्वारा कोई भी मनुष्य मेरे विराट स्वरूप का दर्शन पाने में समर्थ नहीं हो सकता।

मा ते व्यथा मा च विमूढ़भावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४६।।

हे वीर धीर ! इस प्रकार मेरे बड़े विकराल रूप को देखकर तुम व्याकुल न बनो और न मूढ़भाव को ही प्राप्त हो क्योंकि तुम महाभाग्यशाली एवं मेरे परम कृपा पात्र हो। अहो ! इस मेरे देव दुर्लभ स्वरूप को देखने के मात्र अपने को अधिकारी समझ कर हर्ष से भर जाओ। अब अपनी इच्छानुसार भय रहित एवं प्रीतियुक्त मन वाले होकर मेरे शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुये इस चतुर्भुज स्वरूप का पुनः दर्शन करो।

संजय उवाच :—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन ! वासुदेव भगवान ने अर्जुन से इस प्रकार कह कर फिर यथावत अपने चतुर्भुज स्वरूप को दिखाया और पुनः उन सौम्य शरीर वाले महात्मा कृष्ण ने भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया अर्थात् धैर्य बँधाया।

अर्जुन उवाच :—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

भगवान के वाक्य सुनकर एवं सौम्य शरीर का दर्शन कर अर्जुन बोले, हे जनार्दन ! आप श्री के इस मानुषी सौम्य स्वरूप का दर्शन कर अब मैं भय उद्वेग आदि दोषों से रहित शान्त चित्त वाला बनकर प्रकृतिस्थ हो

गया हूँ अर्थात् अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थित हो गया हूँ। प्रभो ! मैं ही नहीं, तीनों लोक आपके इस सुन्दर शरीर का दर्शन कर सुखी हो रहे हैं।

श्री भगवानुवाच :—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

इस प्रकार अर्जुन के वचनों को श्रवण कर भगवान बोले, हे सखे ! मेरे इस चतुर्भुज स्वरूप का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है, देवता भी सदा इस रूप के दर्शन के लिये लालायित बने रहते हैं, तुम धन्य हो जो मेरी कृपा प्राप्त करने के पूर्ण अधिकारी और परम प्यारे बन गये हो, इसीलिये तुमको मेरे इस स्वरूप का दर्शन सुलभ हो गया है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

हे सखे ! जिस प्रकार मेरे चतुर्भुज स्वरूप का दर्शन तुमने किया है, उस प्रकार का दर्शन न वेदाध्ययन से न तपस्या से न दान से और न यज्ञों के अनुष्ठान से ही किसी को प्राप्त होता क्योंकि मैं इनसे इतना प्रसन्न नहीं होता कि जिस प्रसन्नता के वश में होकर तुम्हारे जैसा दर्शन देने के लिये मुझे बाध्य होना पड़े।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।५४।।

बन्धु ! इस प्रकार का दर्शन केवल अनन्य भक्ति के द्वारा मेरा परम प्यारा भक्त ही करने में समर्थ हो सकता है क्योंकि मेरी भक्ति मुझे भक्त के सम्मुख करके उसके आधीन कर देने में समर्थ होती है। इसलिये भक्त मुझको तत्वतः जानने में, दर्शन करने में और मुझमें प्रवेश करने में अर्थात

एकीभूत होकर रहने वाली स्थिति प्राप्त करने में समर्थ होता है। हे परंतप अर्जुन। तुम्हें जो मेरा दर्शन सुलभ हुआ है, उसमें तुम्हारी भक्ति द्वारा उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता मेरी ही कारण है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सग्ङवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

हे सखे ! जो पुरुष मेरे प्रेम विवर्धक मेरे ही सम्बन्धी मदर्थ कर्मों को बिना अहं के अर्थात् मुझको ही कर्ता कारयिता समझ कर किया करते हैं, जो मुझको परम आश्रयण, परमगति समझ कर मेरे नाम, रूप, लीला और धाम के चिन्तन में आसक्त मना होकर मेरे ही परायण बने रहते हैं, जो मेरी सेवा को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं, मेरे ही सुख में अपना सुख एवं मेरी इच्छा को अपनी इच्छा समझते हैं, जो अनन्य प्रयोजन बनकर मेरे कीर्तन भजन में प्रेम पूर्वक लगे रहते हैं, जो सब आसक्तियों से हीन हो गये हैं अर्थात् स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति और अपनी कीर्ति आदि भौतिक सुख में स्नेह रहित हैं तथा जो सम्पूर्ण भूत प्राणियों में एक मुझको देखते हुये वैर भाव से रहित हो गये हैं, ऐसे अनन्य भक्ति वाले पुरुष मेरे को ही प्राप्त होते हैं।

तात्पर्यार्थ :

भगवान वासुदेव सगुण स्वरूप के दर्शन की अति दुर्लभता बताकर उसके दर्शन के लिये अपनी अनन्य भक्ति को ही उपाय बतलाते हैं तथा अर्जुन को उपदेश करते हैं कि मदर्थ कर्म जो प्रेम विवर्धक हों बिना अहं के जो करता है, जो मेरी प्रपत्ति को ग्रहण कर मेरे परायण बना रहता है, जो मेरा अनन्य भक्त है ,जो असंग अर्थात् त्रिविधि ईष्णा से रहित हो गया है जो सब भूतों में एक मुझको ही देखता हुआ सबसे वैर विहीन हो गया है, ऐसा पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है, यही ग्यारहवें अध्याय में कहे गये भगवान के उपदेश का सारतम संदेश है।

द्वादश-अध्याय

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

उक्त प्रकार भगवान वासुदेव के उपदेश को श्रवण कर अर्जुन बोले, हे प्रभो ! जो अनन्य प्रेम लक्षणा भक्ति के द्वारा आपके प्रेमी भक्त पूर्वोक्त प्रकार से आपके सगुण स्वरूप की उपासना करते हैं अर्थात् आपके नाम, रूप, लीला, धाम के भजन ध्यान में सदा परायण बने रहते हैं और जो अक्षर (अविनाशी) अव्यक्त (निराकार) सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की उपासना करते हैं, उन दोनों में अति उत्तम योग वेत्ता कौन है ? अर्थात् सगुण साकार ब्रह्म के उपासक श्रेष्ठ हैं कि निराकार ब्रह्म को मानने वाले श्रेष्ठ हैं। साधन में सुगमता और हृदय में आनन्द का आधिक्य किसको प्राप्त होता है ? तथा आपको कौन पथ का पथिक अधिक प्रिय हैं ? इत्यादि बातों पर विचार करके ही निर्णय देने की कृपा हो।

श्री भगवानुवाच :

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

अर्जुन के उक्त प्रश्न को श्रवण कर भगवान उत्तर में बोले, हे सखे ! अपने हृदय की वार्ता कहता हूँ सुनो, जो मेरे में मन को लय करके मेरी उपासना करते हैं, अर्थात् जो मेरे भक्त मन्मना होकर अनन्य भक्ति से प्रेम पूर्वक निरन्तर मेरे सगुण स्वरूप के नाम, रूप, लीला, धाम की स्मृति में विभोर बने रहते हैं, अतिशय श्रद्धा से युक्त मेरे परायण बने रहते हैं, ऐसे भक्ति–योगी

सम्पूर्ण योगियों में अति उत्तम हैं, ऐसी मेरी मान्यता है, अर्थात् मेरे हृदय में उनके प्रति अति आदर भाव भरा है और उन्हीं को सब योगियों से श्रेष्ठ मानता हूँ, क्योंकि उन्होंने मेरे हृदय पर अपना अधिकार कर मुझे अपने आधीन बना लिया है। अन्य योगियों में मुझे अपने आधीन करने की शक्ति नहीं है, इसलिये इस तारतम्य से प्रेम पूर्वक अन्तरात्मा से मेरे सगुण साकार स्वरूप का भजन करने वाले अति श्रेष्ठ हैं, यह मेरी दृढ़ मान्यता है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

हे सखे ! जो सर्वत्र समता से युक्त सर्वभूत हितैषी पुरुष समस्त इन्द्रियों को भली भाँति अपने वश में करके मन बुद्धि से परे अनिर्देश, अविनाशी, अगोचर, सर्वत्र व्याप्त, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, नित्य, एक रस रहने वाले निर्गुण निराकार परब्रह्म की उपासना करते हैं, वे भी मुझको ही प्राप्त होते हैं, मुझसे अधिक अन्य कुछ भी नहीं प्राप्त करते हैं। भाई ! निर्गुण ब्रह्म के उपासक और सगुण ब्रह्म के उपासक में यह तारतम्य हैं जैसे एक तपस्या करके सोने की शिल (थपिया) पाकर पास में रखते हैं। दूसरे उसी सोने की शिल को पाकर अलंकार बनवा लेते हैं और अंगों में धारण कर शोभा सम्पन्न होते हैं। हाथ में दोनों के लगता सोना ही है परन्तु भाव वजन और कस में कमी न हो तो कौन ऐसा चाहेगा कि मैं सोने की शिल को शिर में ढोता फिरूँ बुद्धिमान पुरुष तो सोने के अलंकार बनवाकर पहनना ही अच्छा समझते हैं। जो अग्नि व्यापक रूप से काष्ठ में विद्यमान हैं, वही प्रकट रूप में भी दीखती है, तत्वतः दोनों एक हैं किन्तु कार्य और सुख की सुलभता से दीखने वाले अग्नि का सभी उपयोग करते हैं। कोई बुद्धिमान पुरुष आकाश को नहीं खरीदता, जमीन के खरीद लेने से वहाँ

का आकाश उसे स्वयं और सहज में मिल जाता है, इसलिये सज्जन लोग सगुण साकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, निर्गुण ब्रह्म स्वयं और सहज में उन्हें प्राप्त हो जाता है। सगुण भक्ति की मशाल जिसके हाथ में है उसे अनन्त काल के अँधेरे घर में भी प्रवेश करने पर कोई वस्तु अदृश्य नहीं रह सकती। भाई ! भक्ति, आदि मध्य और अन्त में अत्यन्त सुखदाई है, इसमें आम के आम और गुठलियों के दाम भी मिलते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

सखे ! निर्गुण निराकार के उपासक वही पाते हैं, जो सगुण साकार के उपासक पाते हैं, किंचित भी नाममात्र भी अधिक कुछ नहीं पाते, अधिकतर यदि कुछ पाते हैं, तो वह है क्लेश और परिश्रम, अर्थात् निर्गुण साधना में उन्हें अधिक क्लेश और परिश्रम सहना पड़ता है। भाई ! जो अव्यक्त हैं, जहाँ मन बुद्धि नहीं जा सकते, शब्दों का झंझावात जहाँ का स्पर्श नहीं कर सकता, वहाँ देहाभिमानी अर्थात् देह को ही अपना स्वरूप समझने वाले साधक की अव्यक्त साधना कैसे सरलतापूर्वक सफल हो सकती है, उसके मन को टिकाने के लिये कोई बिन्दु नहीं, अतएव अव्यक्त विषयक गति देहाभिमानियों से दुःख पूर्वक प्राप्त की जाती है। आकाश में पानी की तरह तैरने में या आकाश ही में मिल जाने में जो कठिनाई व क्लेश होता है, वही कठिनाई व क्लेश देहधारियों को अव्यक्त ब्रह्म की उपासना में होता है, तथा भूखे को चित्त के द्वारा आहार कर तृप्त होने में जो क्लेश और कठिनाई है, वही कठिनाई देहधारियों को अव्यक्त ब्रह्म की उपासना में समझनी चाहिये। अपने हाथों तैर कर महा समुद्र के पार जाने वाली आपत्तियों का सामना ज्ञानी को करना ही पड़ता है। इस प्रकार से यह निश्चय है कि जब तक देहाभिमान, स्वरूपाभिमान, उपायाभिमान, उपेयाभिमान कर्तृत्वाभिमान, ज्ञातृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान और किसी प्रकार के अभिमान न होने का अभिमान जब तक सर्वभावेन सर्वथा नाश

नहीं हो जाता तब तक निर्गुण निराकार ब्रह्म में एकीभाव से स्थिति नही हो पाती।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

सखे! अव्यक्तोपासना–क्लेश, संक्षेप में तुमने सुना, अब सगुण साकार की उपासना में जो सुख और सरलता है उसको सुनो जो मेरे नाम, रूप, लीला, धाम में परायण बने हुये मेरे ही में आसक्त मन वाले अनन्य प्रेमी भक्त मुझको प्रिय लगने वाले मुझसे सम्बन्धित सम्पूर्ण कर्मों के अनुष्ठान का फल मुझको ही समर्पण करके अनन्य प्रेमाभक्ति के द्वारा एक मेरे सगुण साकार स्वरूप का निरन्तर ध्यान एवं चिन्तन करते हुये भजन करते हैं, उन मेरे में चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं बहुत शीघ्र मृत्युस्वरूप संसार सागर से उद्धार करने वाला हो जाता हूँ, अर्थात् उन्हें संसार समुद्र को अपने बाहों के बल से तैरना नहीं पड़ता, मैं स्वयं उनकी बाहु पकड़ कर उन्हें संसार के समुद्र से खींच कर अपने परम धाम में ले जाता हूँ और परम सुख एवं परम विश्रान्ति प्रदान करता हूँ। मेरे साथ रहकर मेरे ही समान अमृतमय आनन्दमय सर्वभोगों का अनुभव करते हैं और पुनः लौटकर प्रकृति मंडल में नहीं आते।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

इसलिये हे सखे! तुम भी मेरे सगुण साकार स्वरूप की उपासना करो, मेरे स्वरूप में अपने मन को स्थित कर दो, बुद्धि भी मेरे ही में लगा दो, अर्थात् प्रेमी भक्तों की पद्धति अपनाकर मन्मना हो जाओ बुद्धि मुझमें और मेरे कैंकर्य करने में ही समर्पित रहे। इस प्रकार अभ्यास में निरन्तर लगे

रहने से इस शरीर त्याग के पश्चात निश्चय है कि तुम मेरे में अर्थात् मेरे परमपद में निवास करोगे। मेरी इस कही हुई वार्ता में नाममात्र का संशय नहीं है। सगुणोपासना से तुम्हें अव्यक्तोपासकों से अधिक लाभ मिलेगा कि तुम अमृत बनकर अमृत के आनन्द का भी अनुभव करोगे किन्तु अव्यक्तोपासक केवल अमृत ही बन पाते हैं। साधन की सुलभता भी उनकी अपेक्षा सगुणोपासकों को अधिक है, अतएव क्लेश रहित सगुण भक्ति के पथ का अनुसरण करो।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।९।।

हे सखे ! यदि तुम मेरे में मन को अचंचल बनाकर स्थिर करने में अपने को असमर्थ पाते हो, तो अभ्यासरूप योग के द्वारा मुझको प्राप्त करने की इच्छा को सुदृढ़ बना लो, मेरे परम पावन नाम का जप व कीर्तन, रूप का ध्यान, लीला का चिन्तन व अनुकरण दर्शन व गान तथा धाम में वास करने का संकल्प व महात्म्य का श्रवण आदि और प्रेमाभक्ति विवर्धक ग्रन्थों का पठन पाठन, प्रेमपूर्वक मेरे अर्चाविग्रह की अर्चा व मानसिक सेवा पूजा एवं मेरी कथा को श्रवण करना तथा प्रेमियों का संग करना, यह सब अभ्यास कहलाता है, दीर्घ काल निरन्तर आदर पूर्वक अभ्यास करने से मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि तुमको अवश्य प्राप्त हो जायेगी।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

बन्धु ! यदि तुम उपर्युक्त अभ्यास करने में भी असमर्थ हो तो श्रौत और स्मार्त सम्बन्धी सभी कर्मों का अनुष्ठान मेरी प्रसन्नता के लिये करो अर्थात् मुझको परम आश्रय, परमगति समझकर मेरे सुख के लिये व मेरी पूजा के लिये निष्काम भाव से उसी प्रकार मदर्थ कर्म करो जैसे पतिव्रता पतिपरायणा सत्पत्नी पति के सुख के लिये सारी दिनचर्या करती है, इस

प्रकार मेरे लिये कर्मों को करते हुये भी मेरी प्राप्ति रूपा परमसिद्धि को तुम प्राप्त कर सकोगे।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

सखे ! यदि हमारे भक्ति योग का आश्रय ग्रहण कर हमारे लिये कर्म करने में भी असमर्थ हो तो, जीते मन वाले होकर सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग करो अर्थात् कर्मों की फलाशा का त्याग करने से कर्म तुम्हें बन्धन में न बाँध सकेंगे, दुस्तर संसार सागर से पार हो जाओगे अवश्यमेव त्याग से शान्ति मिलती है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा ज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्याग स्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।

बन्धु ! बिना भगवद् रहस्य को जाने एवं बिना अनन्य भक्ति से किये हुये अभ्यास से अपरोक्ष (शास्त्र जन्य) ज्ञान श्रेष्ठ है और परोक्ष ज्ञान से मुझ परमात्मा का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग करना श्रेष्ठ है, जिससे तत्काल ही परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।

जो भक्त भगवान को अत्यन्त प्रिय हैं, उनके लक्षण जानने की आन्तरिक इच्छा अर्जुन की समझकर भगवान वासुदेव बोले, जो मेरा भक्त सम्पूर्ण भूतों में द्वेष भाव से शून्य होता है, अर्थात् जिसे सब देशों में मुझ परब्रह्म परमात्मा का दर्शन वैसे ही होता है जैसे वस्त्रों में सूत्र का, मृद् पात्रों में मिट्टी का, तथा स्वर्णालंकारों में स्वर्ण का, इसलिये वह द्वेष किससे करे, जब अपने और पराये की दृष्टि ही समाप्त हो गयी तब एक परब्रह्म पुरुषोत्तम

भगवान का ही दर्शन समस्त भूतों में होने लगना कौन आश्चर्य है ? इसी प्रकार जो भक्त स्वार्थ रहित सबका प्रेमी तथा सब पर अकारण दया करने वाला है, अर्थात् अपने परम सुहृद मुझको समस्त भूतों में देखने के स्वभाव वाला होने से सबको अपना मित्र समझने लगता है और अपनी ही आत्मा को सब भूतों में देखने के स्वभाव वाला होने से सभी के दुख को देखकर ऐसा मानने लगता है कि मुझको ही यह दुख हो रहा है, इसलिये दूसरे के दुख से दुखी होकर करुणा से अभिभूत हो जाता है। जो निरहंकार और निर्मम हो जाता है, अर्थात् जिसे यह बोध हो जाता है कि घट के आकाश की सत्ता महदाकाश से जैसे भिन्न नहीं हैं वैसे ही विश्वात्मा भगवान से मेरी सत्ता अलग नहीं है, मेरे देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि और आत्मा के अन्तर्यामी आत्मा, परमात्मा ही हैं वही एक सब में विराज रहे हैं, यह जड़ चेतन जगत उनका शरीर है, मैं कुछ नहीं हूँ, अगर उनकी लीला के लिये उनके इच्छानुसार कुछ हूँ तो उनका शेष भूत दास हूँ, भोग्य हूँ एवं उनके परतन्त्र हूँ, तब अहंकार का समूल नाश हो जाता है और अहं के नाश होते ही मम का पता अर्थात् नाम भी नहीं रहता। इसी प्रकार जो भक्त दुःख और सुख को बराबर समझते हैं, अर्थात् दुख–सुख को आत्मा में न देखकर प्रकृति में देखने के कारण सम बुद्धि वाले निर्द्वन्द्व बन जाते हैं, दुःख से घबड़ाते नहीं तितिक्षु बनकर सहन करते हैं, तथा दुख के दूर होने के लिये मुझसे प्रार्थना भी नहीं करते और दुख दूर हो जाने पर न हर्ष को प्राप्त होते न पुनः न आने के लिये कामना ही करते, सुख में न हर्षोत्फुल्ल होते, सुख चले जाने पर न दुखी होते और न पुनः सुख आने की इच्छा ही करते। जो भक्त क्षमाशील हैं, अर्थात् महान से महान अपने ऊपर अपराध करने वाले व्यक्ति को अपराध का कर्त्ता ही नहीं समझते उल्टे उसे अपना उपकारी समझ कर कृतज्ञता प्रकट करते हैं और अहित चिन्तन न कर अपराधी के मंगल की कामना करते हैं और अपनी प्रीति, उपकार क्षमा कृपा का बार–बार परिचय देकर उसके स्वभाव में परिवर्तन

ला देते हैं, अर्थात् उसे साधु स्वभाव वाला बना देते हैं, ऐसे उपर्युक्त गुण वाले भक्त मुझे अपनी आत्मा से भी अधिक प्यारे लगते हैं, हे सखे ! यह वार्ता मैं तुमसे सर्वथा सत्य कह रहा हूँ।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः से मे प्रियः।।१४।।

हे सखे जो भक्त भक्ति–योग के प्रभाव से सर्वदा सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् अप्राप्त वस्तु की कामना नहीं करता और प्राप्त वस्तु में रागद्वेष से विहीन होकर रहता है, शम, दम से संयुक्त होकर मन और इन्द्रियों को अपने आधीन किये रहता है, तथा मेरे में दृढ़ निश्चय वाला होता है, अर्थात् मुझको ही उपाय उपेय समझकर मेरे आश्रय में अडिग बना रहता है और मन बुद्धि को अर्पण किये रहता है अर्थात् जिसका अन्तःकरण मुझको ही एकमात्र अपना विषय बनाये रहता है, वह मुझको बहुत प्रिय है, उसके देखे बिना मुझे चैन नहीं पड़ती, उससे वार्तालाप करके ही मुझे विश्रान्ति मिलती है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

बन्धु ! जिस भक्त से कोई भी जीव उद्वेग को नहीं प्राप्त होते और जो स्वयं किसी जीव से उद्वेगित नहीं होता, अर्थात् जो सबमें मेरा दर्शन करता हुआ प्रत्येक परिस्थिति को मेरी ओर से आई हुई अपने मंगल की हेतु समझकर किसी से उद्वेग को नहीं प्राप्त होता, सर्वकाल में सर्व ओर से अपना रक्षक मुझको जानकर भयविहीन बना रहता है तथा सब जीवों में मुझे ही देखकर सबसे प्रेम करता है, किसी को उद्वेग पहुँचाने की जिसके मन में कल्पना ही नहीं होती, तथा जो इष्ट की प्राप्ति में हर्ष को नहीं प्राप्त होता और न अनिष्ट की प्राति में अमर्ष (असहिष्णुभाव) को ही प्राप्त होता, अर्थात् स्वरूप में स्थित रह कर अनुकूल, प्रतिकूल की प्राप्ति को

प्रकृति सम्बन्ध से जानता है, इसलिये हर्ष विषाद नहीं होता, अथवा सब मेरा दिया हुआ प्रसाद समझकर राग–द्वेष के बिना ग्रहण करता है, अतएव हर्षामर्ष से अछूता रहता है और जो अभय रहकर शान्त रहता है, अर्थात् मेरी शरण में रहकर अपना सर्व समर्पण कर देने के पश्चात जो निर्भय हो जाता है, मेरे पर निर्भर रहता है, मुझको ही अपना रक्षक समझकर और आत्मा को अविनाशी जानकर भय का स्वप्न नहीं देखता अतएव उद्वेग से विहीन विचरता है, वह भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है, उसकी रक्षा करने के लिये मैं सदा सजग रहता हूँ, इष्ट की प्राप्ति कराकर उसके अनिष्ट की निवृत्ति कर देता हूँ जिससे वह शाश्वत शान्ति का अनुभव करता है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रिय।।१६।।

बन्धु ! जो मेरा भक्त अपेक्षा रहित है अर्थात् कर्मों के करने न करने में तथा ग्रहण और त्याग में एवं इच्छा अनिच्छा में आग्रह और प्रयोजन हीन बना रहता है, जो बाहर भीतर से शुद्ध है अर्थात् शरीर की शुद्धि जल मिट्टी से करके उसको भगवद्भागवतगीता के कैंकर्य में लगाये रहता है तथा मन से सबका हित चाहता है, चित्त को अचंचल बनाकर मुझ परमेश्वर के चिन्तन में लगाये रहता है, बुद्धि से परमार्थ का ही विचार और विनिश्चय करता है एवं अहम् को भगवद्दासता की शीतल गली में गला देता है और जो सर्वभावेन दक्ष है अर्थात् मेरे दिये हुये करण कलेवर को प्राप्त कर उसकी उपयोगिता स्वरूपतः करके ब्रह्म प्राप्ति कर लेता है, जो संसार से उदासीन है अर्थात् जिसका चित्त संसार के महान से महान सुख एवं उत्सव में न रमता है न उत्साही ही होता और न किसी बड़ी से बड़ी हानि हो जाने पर शोक करता, न किसी वस्तु के पाने की इच्छा करता तथा जो सम्पूर्ण दुखों से मुक्त है अर्थात् आत्मा को असंग जान किसी दुख में आसक्त नहीं होता, द्रष्टा बनकर असंगतया देखता है और जो सर्वारम्भों का परित्यागी है, अर्थात् जो संकल्प हीन हो गया

है, स्वभावतः मन वाणी और शरीर से जो कर्म करता है, उसमें कर्तापन का अभिमान फल की कामना और आसक्ति न होने से सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों का त्यागी ही बना रहता है, वह भक्त मुझे अपने प्राणों से भी प्रिय है, उसके हृदय में मैं स्वयं निवास करता हूँ और उससे जो भी चेष्टायें होती हैं, वह सब मेरी ही लीला की अंगभूता है। उसका सब मेरा और मेरा सब उसका हो जाता है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

हे बन्धु ! जो मेरा भक्त अनुकूल परिस्थिति को प्राप्त कर न तो हर्षित होता है और न प्रतिकूल परिस्थिति को प्राप्त कर द्वेष करता है तथा हानि दशा में न शोक को प्राप्त होता और न अप्राप्त वस्तु की कामना ही करता है, एवं जो सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों के फल का त्यागी है अर्थात् जो मदर्थ चेष्टाओं को करता है, वह भक्तिमान पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है, उसका सब भार मैं स्वयं वहन करता हूँ क्योंकि वह एक मुझको ही चाहता है, अनन्य प्रयोजन होकर संसार के स्वभाव से ऊपर उठ चुका है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।१८।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

सखे ! जो मेरा भक्त सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों में एक मुझे और मेरी लीला को ही देखने के कारण शत्रु–मित्र में तथा मान–अपमान में, शीत–उष्ण में और दुःख–सुख में सम हो गया है, अर्थात् द्वन्द्वों से मुक्त होकर असंग हो गया है, प्रकृति सम्बन्ध से हीन होकर आत्मा में स्थित हो गया है एवं निन्दा–स्तुति को तुल्य समझकर जो मौन हो गया है अर्थात् भय क्रोध और राग, काम के उद्वेग से हीन हो गया है,

जो प्राप्त वस्तु में राग द्वेष न करके संतुष्ट बना रहता है अर्थात् अपरिग्रही है थोड़े में ही शरीर निर्वाह कर लेता है और जो अनिकेत है अर्थात् देह गेह में ममत्व बुद्धि से हीन है तथा स्थिर बुद्धि वाला अर्थात् दृढ़ निश्चयी है, वह भक्त मुझको आत्माधिक प्यारा है उसके बिना मुझे चैन न मिलना मेरे स्वभाव में उतर आया है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

हे सखे! जो पुरुष मेरे बताये हुये इस अमृतमय भागवद्धर्म के अनुसार अपने जीवन की पद्धति बनाकर भागवद्धर्म की उपासना करते हैं और मुझ सर्वात्मा को अपना परम आश्रय समझकर महान श्रद्धा के साथ प्रेम पूर्वक मेरे ही परायण बने रहते हैं, अर्थात् प्रेमापराभक्ति से सम्पन्न मेरी सेवा करने के स्वभाव वाले बन जाते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं, उनके समान मुझे ब्रह्मा, शंकर, संकर्षण, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी प्रिय नहीं है। बन्धु! मैं उनका प्यार पाने और उनको प्यार करने के लिये सदा लालायित बना रहता हूँ, जब उनकी की हुयी सेवा का स्मरण करता हूँ तो मुझे अपना सर्वस्व उन्हें समर्पण कर देने पर भी उनका ऋणिया बनकर रहना अच्छा लगता है। उनके पीछे–पीछे चलकर उनकी उड़ी हुयी पद रेणु से अपने को पवित्र करता हूँ अर्थात् ऋण हत्या के दोष से मुक्त होता हूँ। कहाँ तक कहूँ, अगर वे मुझे बेचें तो बिकने को भी तैयार रहता हूँ, परन्तु वे मुझे किसी मूल्य पर बेचना नहीं चाहते। उन्हें मुझे अपना बनाकर रखने में ही आनन्द आता है और मैं भी उनके आधीन रहने ही में परमानन्द का अनुभव किया करता हूँ।

तात्पर्यार्थ :

स्वयं परब्रह्म परमात्मा श्री कृष्ण भगवान अपने श्री मुख से निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना से सगुण साकार ब्रह्म की उपासना निरापद

एवं सहज सुखप्रदायिनी बतलाते हैं। प्रेमी भक्त प्रेमलक्षणा भक्ति से सम्पन्न प्रेमियों की रहनि एवं भागवद्धर्म को अपनी जीवन पद्धति बनाकर प्रेमपरिपूर्ण भजन करने के स्वभाव वाला बन जाता है। कर्म ज्ञान और योग के द्वारा प्राप्त सिद्धियाँ उसकी सेवा करने का अवसर पाकर कृतार्थ होना चाहती हैं किन्तु प्रेमी भक्त अनन्य प्रयोजन होने के कारण उनकी ओर कभी देखने की इच्छा नहीं करता, परम फलस्वरूप में वह प्रभु का परम प्यार प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है, पुरुषोत्तम भगवान के मुख कमल को विकसित करने वाला प्रेमी भक्त प्रभु को अपने आधीन पाता है, भगवान की अतिशय आसक्ति अपने प्रति देख–देख कर क्षण–क्षण नव–नव विवर्धमान प्रभु के प्रति अपने प्रेम के सिन्धु में निमग्न हो जाता है, परन्तु प्रभु उसके संग की हुई लीला का आस्वाद लेने के लिये सेवा करने की शक्ति व प्रेरणा देकर प्रेम पूर्ण अपने मुख कमल का दर्शन करने की स्थिति में ला देते हैं। प्रेमी और प्रेमास्पद का एकान्तिक सुख एवं प्रेम अवर्णनीय एवं अनुभवगम्य होता है, प्रेम का सुख कर्मठ, ज्ञानी और योगियों को अति दुर्लभ है तदनुसार प्रभु का अत्यन्त प्यार पाने का जब स्वप्न उन्हें अलभ्य है तब उसके प्रत्यक्ष अनुभव की वार्ता के विषय में कुछ कहना व्यर्थ है। धन्य वे भक्त हैं जो प्रभु को अत्यन्त प्रिय हैं जिन पर उनकी ममता और आसक्ति है प्रेमाभक्ति के पथ से चलकर प्रभु को रिझाने में लगे रहना ही द्वादश अध्याय का सारतम संदेश है।

त्रयोदश-अध्याय

श्री भगवानुवाच :

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

हे सखे ! पुनः क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ विषयक, चर्चा करके तुम्हें उद्बोधित कर रहा हूँ सुनो, यह शरीर ही क्षेत्र नाम से कहा गया है और जो इसको जानने वाला है, वही क्षेत्रज्ञ–नाम से कहा गया है, यह केवल हमारा ही मत नहीं है, इस तत्व के जानने वाले सभी ज्ञानी जनों का समवेत कथन है, जैसे खेत में बोये हुये बीज समय पर फूलते फलते हैं और कृषक उस फसल का उपभोग करता है, उसी प्रकार शरीर द्वारा किये गये कर्म संस्कारवशात् परिपक्व होते हैं और उन कर्म फलों को शरीर का मालिक जीवात्मा उपभोग करता है इसलिये शरीर को क्षेत्र और शरीरी को क्षेत्रज्ञ कहा गया है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।२।।

बन्धु ! सब क्षेत्रों में बसता हुआ क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा मैं ही हूँ ऐसा तुम जानो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति और पुरुष का ज्ञान होना ही ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है, प्रकृति जड़, और पुरुष चेतन है, प्रकृति से पुरुष सर्वथा भिन्न है, इत्यादि बोध हो जाना ही ज्ञानियों के लक्षण हैं।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु।।३।।

सखे ! अब वह क्षेत्र जो है और जिस प्रकार का है तथा जिन विकारों से युक्त है, जिस कारण से जो हुआ है, एवं वह क्षेत्रज्ञ जो है, जैसा है

और जिस प्रभाव से समन्वित है, संक्षेप में मुझसे श्रवण करो क्योंकि विस्तार पूर्वक वर्णन करने में बहुत समय लगेगा यहाँ युद्ध के लिये विपक्षी प्रेरणा दे रहा है कि शीघ्रातिशीघ्र युद्ध प्रारम्भ हो जाना चाहिये।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।४।।

बन्धु ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्वज्ञान ऋषियों के द्वारा विविध छन्दों में गायन किया गया है अर्थात् समझाया गया है एवं नाना प्रकार के ब्रह्मसूत्र पदों में भी विभाग पूर्वक वर्णन किया गया है, जो भलीभाँति निश्चयात्मक युक्तियों से युक्त है, इसलिये समय मिलने पर उक्त प्रणीत ग्रन्थों में तुम विस्तारपूर्वक देख लेना, वर्तमान स्थिति बाध्य कर रही है कि तुम्हें संक्षेपतः मेरे द्वारा कहे ज्ञान को श्रवण कर स्वधर्म पालन में लग जाना चाहिये।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

बन्धु ! ऋषियों और श्रुतियों के द्वारा कहे गये क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ विषयक ज्ञान को ही मैं कह रहा हूँ श्रवण करो। महाभूत (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश) अहंकार, बुद्धि, मूल प्रकृति, दश इन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, नेत्र, त्वक्, रसना, घ्राण ये पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और मुख, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये कर्मेन्द्रियाँ तथा एक मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इच्छा, द्वेष, सुख–दुख, स्थूल देह का समुच्चय पिण्ड, एवं चेतना और धुति, इस प्रकार से यह क्षेत्र विकारों के सहित संक्षेप से वर्णन किया गया है। इस क्षेत्र ज्ञान को तुम हृदय में धारण कर लो, बुद्धि में बैठा लो।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

हे सखे! बड़प्पन के कारण मान पाने की इच्छा का अभाव, दम्भाचरण अर्थात् जैसा अपना अन्तःकरण है, उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ दिखलाने की चेष्टा करके अपने को पुजवाने का अभाव, मन वचन और शरीर से जीव मात्र को कष्ट न पहुँचाने की सहजवृत्ति, अपने अपराधी को भी अपराध कर्ता न मान कर उस पर प्रीति, क्षमा, कृपा और उपकार की भावना बनाये रहना, मन वाणी में सरलता, मृदुता बसा कर सबसे प्रिय व्यवहार करने की बानि, आचार्य की उपासना अर्थात् अनुरक्ति पूर्ण सर्व समर्पण के साथ आचार्य शुश्रूषा परायण बने रहना, बाह्य और अभ्यन्तर को निर्मल बनाये रहने की प्रवृत्ति, अन्तःकरण में स्थैर्य अर्थात् दृढ़ निश्चयी रहने का स्वभाव और शम–दम के द्वारा मन और शरीर को अपने–आधीन किये रहने का स्वभाव।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।८।।

इन्द्रियों के अर्थों अर्थात् श्रुत और दृष्ट भोगों से परम वितृष्ण रहने की प्रवृत्ति, अहंकार का अभाव अर्थात् अहंकार न होने का भी अहंकार न होना तथा जन्म, मरण, जरा और रोगों के दुःख और दोषों का बार–बार चिन्तन करके संसार की हेयता को प्रत्यक्ष कर लेने का बुद्धि वैशद्य।

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्त त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।९।।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।१०।।

तथा पुत्र, स्त्री, गृह और धनादि में आसक्ति का सर्वथा न होना एवं

अनुकूल प्रतिकूल प्राणी पदार्थ और परिस्थितियों के प्राप्त होने पर हर्ष विषाद के वशीभूत न होना अर्थात् सर्वदा समत्व में स्थित रहना, तथा अनन्य योग से परिपक्व अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा मुझ परमेश्वर को प्रसन्न करना, एकान्त सेवन अर्थात् पवित्र मन से एकान्त शुद्ध देश में रहकर भजन करने का स्वभाव और विषयी संसारी लोगों के समुदाय में अरुचि।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।११।।

स्वरूप, परस्वरूप, उपाय स्वरूप, फलस्वरूप और विरोधी स्वरूप के ज्ञान में नित्य स्थिति और परम अद्वय तत्व के ज्ञानार्थ स्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का सर्वत्र दर्शन करना, यह सब तो ज्ञान है और इससे जो अन्यथा ज्ञान है, वह अज्ञान है, ऐसा शास्त्रों में कहा गया है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१२।।

हे सखे! जो वस्तु ज्ञेय है अर्थात् जानने योग्य है जिसे जानकर पुरुष अमृतानन्द का अनुभव करता है, उसको मैं तुमसे भली भाँति कहूँगा, वह आदि रहित परब्रह्म परमात्मा अकथनीय होने से न सत् कहकर निरूपित किया जा सकता और न असत् कहकर, अर्थात् सत् और असत् से वह परे है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३।।

हे बन्धु! वह परब्रह्म परमात्मा सब ओर से हाथ–पैर वाला है, इसी प्रकार सब ओर से नेत्र, सिर और मुख को धारण करने वाला है तथा सब ओर से श्रोत्र वाला है क्योंकि वह सारे जगत में सबको व्याप्त करके स्थित है अर्थात् प्रत्येक अणुपरमाणु में स्थित होने से सर्वत्र सब ओर से

ग्रहण करने, चलने, देखने, सुनने इत्यादि कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के कार्य को करने में समर्थ है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१४।।

सखे! वह परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियों के अर्थों को समझने वाला है, परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित तथा आसक्ति हीन और गुणातीत होते हुये भी अपनी योग माया से सबका धारक, पोषक और गुणों का भोक्ता है अर्थात् वह परब्रह्म युगपद विरोधी भावों का आश्रय है, जो सर्व सामर्थ्य का द्योतक है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१५।।

बन्धु! वह परब्रह्म परमात्मा चराचर प्राणियों के बाहर भीतर परिपूर्ण है अर्थात् चराचर रूप में वही दृष्टिगोचर हो रहा है। अति सूक्ष्म होने से किसी के ज्ञान का विषय नहीं हो सकता इसलिये अविज्ञेय है जैसे काष्ठ में अग्नि पूर्णरूपेण व्याप्त है परन्तु सूक्ष्म होने से लोगों को दिखाई नहीं देती तथा वह परब्रह्म सबके इतना समीप है जितना समीप अपने अंग के अवयव भी नहीं हैं और दूर इतना है कि जितना दूर ब्रह्माण्ड का ऊपरी भाग ही नहीं है अर्थात् योगियों के अति समीप और कुयोगियों को अति दूर है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

सखे! वह परब्रह्म तत्व आकाश के समान एक रूप से विभाग रहित होता हुआ भी चराचर सम्पूर्ण प्राणियों में घटाकाश, मठाकाश के सदृश पृथक् पृथक स्थित हुआ प्रतीयमान हो रहा है, इस प्रकार का वही परमात्मा

विष्णु रूप से सबका धारक पोषक बन रहा है और रुद्र रूप से सबका संहारक तथा ब्रह्मा रूप से सबको उत्पन्न करने वाला बना हुआ है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१७।।

सखे ! वह परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतिवानों का ज्योति है अर्थात् नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य, और अग्नि में जो ज्योति है वह उस ज्योति स्वरूप परमात्मा की ज्योति का छुद्र अंश है और तमस अर्थात् माया से अति परे है, यह श्रुति शास्त्र एवं संतों से समवेत कहा गया है, वह स्वयं बोध स्वरूप है और सबके जानने योग्य है

क्योंकि बिना उसके जाने किसी को कल्याण की प्राप्ति नहीं होती, तथा उस ब्रह्म के ज्ञान द्वारा ही उसे जाना जा सकता है, जैसे सूर्य से प्रकाशित नेत्रों से ही देखा जा सकता है। वह परब्रह्म सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे तिल में तेल, किन्तु बिना ज्ञान के जन्तु उन्हें अतिदूर समझता है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१८।।

हे बन्धु ! इस प्रकार मैंने क्षेत्र स्वरूप, ज्ञान स्वरूप ओर जानने योग्य परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप संक्षेप से तुमको बतला दिया, इसको तत्वतः जानकर मेरा भक्त मेरे ही भाव को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मेरे साधर्म्य एवं साम्य को प्राप्त हो जाता है। हंस जैसे नीर–क्षीर के विवेक द्वारा मिले हुये क्षीर–नीर में से केवल दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष या क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को धारण करने वाला मनुष्य प्रकृति सम्बन्ध से अपने को अलग कर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान से सम्बन्धित हो जाता है।

प्रकतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान्।।१६।।

हे सखे ! मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति (माया) और पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ इन दोनों को तुम अनादि समझो तथा गुण और उनके अन्तः बाह्य करण आदि विकारों को भी प्रकृति से उत्पन्न हुआ जानो।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२०।।

हे बन्धु ! आकाशादि पञ्च तत्व तथा शब्दादि तन्मात्रायें जो कार्य कहलाती हैं और अन्तःकरण चतुष्टय, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पंच कमेन्द्रियाँ करण कही जाती हैं, इनके उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख–दुखों के भोगने में हेतु कहा जाता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२१।।

बन्धु ! पुरुष प्रकृति में स्थित होकर अर्थात् तादात्मभाव करके प्रकृति से उत्पन्न हुये त्रिगुणात्मक भोग्य वस्तुओं को उसी प्रकार भोगता है जैसे वृक्ष में स्थित पक्षी वृक्ष के फलों को खाता है और इन गुणों के संग से ही जीवात्मा भली–बुरी योनियों में जन्म ले लेकर उसी प्रकार भटकता रहता है जैसे कीर और मर्कट भोग्य वस्तु के लोभ से बाँधे जाते हैं। जीवात्मा सत्वगुण के संग से देवयोनि में रजोगुण के संग से मनुष्य योनि में और तमोगुण के संग से पशु–पक्षी आदि तिर्यक योनि में जन्म लिया करता है। और तदनुसार सुख–दुख का अनुभव भी किया करता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२२।।

सखे ! तथ्यपूर्ण मेरे वचन सुनो, इस भौतिक शरीर में स्थित होते हुए

भी यह पुरुष प्रकृति से सर्वथा भिन्न और विलक्षण है अतएव उसे त्रिगुणात्मिका माया से परे कहा गया है, यह जगल्लीला उसकी इच्छा एवं सकाशता से उसी के देखने के लिये हो रही है अतएव केवल साक्षीभूत होने से उपदृष्टा कहलाता है जीवों के संस्कारानुसार कर्म करने की अनुमति प्रदान करने से अनुमन्ता कहते हैं तथा सबका धारण पोषण करने वाला होने से भर्ता नाम से कहा गया है, जीव रूप से कर्म–फल को भोगने से भोक्ता की संज्ञा दी गयी है, ब्रह्मादिकों का भी स्वामी एवं शासक होने से महेश्वर के नाम से पुकारा गया है और शुद्ध सच्चिदानन्दघन तथा सबका अन्तर्यामी आत्मा होने से परमात्मा कहा गया है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

हे सखे ! उपर्युक्त प्रकार से कहे हुए पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को तत्वतः भलीभाँति जानता है, वह सर्वभावेन जगत व्यवहार को करता हुआ अर्थात् कर्त्तव्य कर्मो का आचरण करता हुआ भी पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता है। वास्तव में अनात्मा और आत्मा का बोध हो जाने से विनाश शील अचेतन परिणामी प्रकृति से उसी प्रकार सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है जिस प्रकार काँच और मणि की परख हो जाने पर काँच से अरुचि उत्पन्न हो जाती है अतएव आत्म स्थिति एवं परमात्मानुरक्ति हो जाने के कारण उस सच्चिदानन्दमय परमधाम की प्राप्ति हो जाती है जो अपुनरावर्ती है, नित्य है और अविनाशी है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२४।।

हे सखे ! उस परम पुरुष परब्रह्म परमात्मा को कितने ही मनुष्य सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान योग के द्वारा हृदयाकाश में दर्शन करते हैं तथा कितने ही ज्ञानयोग के द्वारा देखते हैं और अन्य कितने ही कर्मयोग के द्वारा देख

लेते हैं, अर्थात् अष्टांग योग, ज्ञान योग और कर्मयोग के पथ में चलकर ब्रह्म दर्शन करते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुति परायणाः।।२५।।

बन्धु ! दूसरे साधक जो परमात्म स्वरूप का बोध नहीं कर पाये हैं, वे भी किसी ब्रह्मविद् भक्ति योगी से ब्रह्म विषयक वार्ता को सुनकर अर्थात् ब्रह्मोपासना पद्धति की दीक्षा प्राप्त कर श्रद्धा सहित उपासना करते हैं, अतएव भगवद्यश सुनने के अनुरागी और अभ्यासी निश्चय ही मृत्यु रूप संसार सागर से पार होकर परमात्मा को अर्थात् परम पद को प्राप्त कर अमृतानन्द का अनुभव करते हैं, किं पुनः जो परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर आसक्त मन से निरन्तर श्रद्धा एवं प्रेम प्रवणता के साथ अन्तरात्मा से मुझ परब्रह्म पुरुषोत्तम का भजन करते हैं, वे प्रेम योगी तो मुझे मधु के समान अत्यन्त प्रिय हैं, निश्चय करके वे मेरे ही स्वरूप हो जाते हैं।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावर जंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२६।।

हे सखे ! चराचर जगत में यामन्मात्र यत्किंचित् वस्तु उत्पन्न होती है, उस सम्पूर्ण को तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुई समझो, अर्थात् प्रकृति और पुरुष के परस्पर सम्बन्ध से ही संसार की स्थिति है, पुरुष की सकाशता न हो तो अकेले प्रकृति में सृष्टि, संरक्षण और संहार करने की शक्ति नहीं है और पुरुष जब तक अपनी शक्ति का आश्रय नहीं लेगा तब तक सर्व सामर्थ्यशाली होते हुये भी सृष्टि कार्य कैसे करेगा ? जैसे स्वरूप स्थित समाधि संपन्न होगी जब तक समाधि से अलग न होगा तब तक मन, वचन और शरीर के कार्य करने में सक्षम नहीं हो सकता वैसे ही उक्त विषयक वार्ता को समझो।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२७।।

बन्धु! विनाशशील अनित्य चराचर जगत के सर्वभूतों में जो पुरुष अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही वास्तव में देखता है उसकी ब्रह्म दृष्टि ही सर्वोत्तम दृष्टि है मिट्टी के विभिन्न आकार के विभिन्न पात्रों में जो सम्भाव से मिट्टी ही देखता है, उसकी दृष्टि उत्तम है और जो अनेक नामों और रूपों के ज्ञान में आसक्त मिट्टी को विस्मरण कर देने वाला है, उसकी दृष्टि यथार्थ नहीं है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२८।।

सखे! ब्रह्म दृष्टि वाला पुरुष सर्वत्र सब में सम भाव से स्थित परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता अर्थात् अपने ज्ञान से आत्मा को अविनाशी समझता है, शरीर के नष्ट होने पर अपना (आत्मा का) नाश नहीं मानता इससे वह परमगति को प्राप्त करता है, इसके विपरीत प्रकृति सम्बन्ध से जकड़े हुये जो देहाभिमानी शरीर के नाश होने पर अपने को मरा हुआ समझते हैं वे घोर अन्धकार मय अधोगति को प्राप्त होते हैं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२९।।

हे बन्धु! जो पुरुष क्रियमाण सम्पूर्ण कर्मों को प्रकृति से किये हुये देखता है अर्थात् यह ज्ञान भली भाँति हो जाता है कि प्रकृति–प्रसूत सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वर्तते हैं और आत्मा को अकर्ता जानता है, वही सच्चा ज्ञानी है और वही सच्चा दृष्टा है लहरों से कंपित जलाशय में पड़ने वाला प्रकाश काँपता हुआ अज्ञानियों को दिखाई देता है परन्तु काँपता जल है, प्रकाश नहीं, अतएव ऐसा देखना ही वास्तव में देखना है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।।३०।।

हे सखे! जिस समय यह पुरुष सम्पूर्ण प्राणियों के पृथक्–पृथक भावों को एक परब्रह्म परमात्मा के संकल्प रूपी आधार शिला पर स्थित देखता है अर्थात् यह बोध प्राप्त कर लेता है कि सारे संसार का सम्पूर्ण व्यवहार परमात्मा के मात्र संकल्प से हो रहा है, इसका कर्ता कारयिता अन्य कोई नहीं है, उस समय वैसे सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को प्राप्त हो जाता है, जैसे बाजीगर के खेल को देखकर सब मोहित हो जाते हैं, परन्तु जो जिस समय यह समझ जाता है कि खेल का आधार केवल नट का संकल्प है, न नट कुछ करता है और न खेल की साधनभूता सामग्रियाँ ही, ठीक उसी काल में वह नट के भाव को प्राप्त हो जाता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३१।।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३२।।

हे सखे! यह अविनाशी परब्रह्म परमात्मा अनादि और गुणातीत होने के कारण शरीर में स्थित हुआ भी वास्तव में न कुछ करता है और न कर्मों के फलों से लिपायमान ही होता, जैसे सूर्य ब्रह्माण्ड के भीतर ही निवास करते हैं, परन्तु अपनी सकाशता से किये हुये दैनिक कार्यों से वे लिप्त नहीं होते और जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश सूक्ष्म होने से किसी से लिप्त न होकर अलिप्त ही रहता है, वैसे ही सर्वत्र सर्व प्राणियों के देह में स्थित हुआ भी यह आत्मा गुणातीत होने से देह के गुणों से अलिप्त रहता है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३३।।

हे बन्धु! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने प्रकाश से भली भाँति प्रकाशित करता है, वैसे ही एक ही आत्मा (परमात्मा) सम्पूर्ण क्षेत्र अर्थात् शरीरों को प्रकाशित करता है अर्थात् बोध स्वरूप एक परमात्मा घट घट में समाया हुआ है उसी की चेतन शक्ति सबको चेतनता प्रदान कर रही है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

हे सखे ! इस प्रकार बताये हुये ज्ञान के अनुसार जो पुरुष क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को, तथा विकार स्वरूपा प्रकृति सम्बन्ध से वियुक्त होने के उपाय को अपने ज्ञान–नेत्रों द्वारा तत्वतः जानते हैं, वे महात्मा जन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं।

तात्पर्यार्थः–

क्षेत्र अचेतन, क्षण क्षण में परिणामी विनाश शील, अन्धकारमय और विकारों का आगार है। क्षेत्रज्ञ चेतन, अपरिणामी, अविनाशी, अविकारी, प्रकाशमय और सच्चिदानन्दघन स्वरूप है। क्षेत्र (प्रकृति) संसार प्रवाह में सदा बहाने वाला है और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) संसार से मुक्त करने वाला है अर्थात् प्रकृति बन्धन में डालने वाली और पुरुष मोक्ष प्रदान करने वाला है, ऐसा ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति सम्बन्ध से मुक्त हो जाना चाहिये तथा पुरुष अर्थात् ब्रह्म सम्बन्ध से युक्त होकर ब्रह्म प्राप्ति कर लेना चाहिये अर्थात् परम पद प्राप्त कर आवागमन से मुक्त हो जाना चाहिये। यह सब ज्ञान आचार्य की कृपा से सुलभ हो सकता है। इसलिये सदाचार्य के समीप रहकर मोक्ष कामी को आचार्यानुवर्तन करते हुये परम पद प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, यही तेरहवें अध्याय में कथित भगवान के उपदेश का सारांश है।

चतुर्दश-अध्याय

श्री भगवानुवाच :—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगताः।।१।।

हे सखे! पुनः मैं तुमसे सम्पूर्ण ज्ञानों के सारतम उत्तम ज्ञान को कहता हूँ, जिसके ज्ञान से अर्थात् जिस एक के जान लेने से सबका ज्ञान अपने आप हो जाता है अर्थात् सब जाना हुआ हो जाता है और जिसको जानकर सम्पूर्ण मुनि लोग संसार बन्धन से मुक्त होकर परमसिद्धि स्वरूप परमात्मा के परमधाम को प्राप्त कर लिये है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

हे बन्धु! इस ज्ञान को अवधारण करके मेरे साधर्म्य अर्थात् स्वरूप को प्राप्त हुये मनुष्य सृष्टि के आदि में पुनः जन्म नहीं धारण करते और प्रलय काल में मृत्यु के भय से भी मुक्त रहते हैं इसलिये व्याकुल नहीं होते क्योंकि वे स्वरूपज्ञ होते हैं ''वासुदेवः सर्वमिति'' की भावना से उनकी बुद्धि भावित रहती है। नट खेल में अपने पुत्र के शरीर को काटता हुआ दीखता है, उसके खेल से अनभिज्ञ लोग हाय! हाय! कहकर आश्चर्य करते हैं और कितने मूर्छित हो जाते हैं, परन्तु वहीं खड़ा हुआ नट का सेवक जो नट–लीला को समझने वाला है वह उफ् तक नहीं करता न आश्चर्य से देखता, वह नट को भी कुछ करते अर्थात् मारते नहीं देखता और न लड़के को मरते देखता, ठीक इसी प्रकार से ज्ञानी लोग संसार में व्यामोह को नहीं प्राप्त होते।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

हे सखे ! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि अर्थात् उत्पन्न कारिका स्थली है जिसे गर्भाधान का स्थान कहते हैं, और मैं उस योनि में चेतन रूप वीर्य को स्थापन करता हूँ, जिससे जड़–चेतन का संयोग होता है और उस संयोग से सर्व भूतों की उत्पत्ति होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

बन्धु ! अब तुम समझ गये होगे कि अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज भेद से चौरासी लाख योनियों में जितने शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणत्मिका माया तो गर्भ को धारण करने वाली माता है और मैं चेतन रूप वीर्य को स्थापन करने वाला सबका पिता हूँ, अर्थात् सम्पूर्ण भूतों का शरीर तो प्रकृति जन्य है और चेतन की स्थिति मेरे अंश से है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

हे सखे ! सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण जो प्रकृति से उत्पन्न हुये हैं, अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते है। अर्थात् देहाभिमान से युक्त करते हैं और देह व देह सम्बन्धी वस्तु में आसक्त मन वाला बनाये रहते हैं, जैसे मोहन मंत्र के द्वारा कोई मंत्र सिद्ध पुरुष किसी को मोहित करके उसके असली सम्बन्धी, घर गाँव और देश को भुलवा देते हैं और अपने इच्छानुसार उससे काम लेते हुये उसके मन को अपने व अपने कार्य में रमाये रहते हैं, वैसे ही गुणों की करतूत को समझना चाहिये।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।।६।।

हे सखे ! इन तीनों गुणों में सत्वगुण प्रकाशक निरामय (निर्विकार) और निर्मल है, इसलिये, जीव को सुख की आसक्ति से और ज्ञान की

आसक्ति से बाँधता है, अर्थात् जीव, मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, अपने को जब समझने लगता है, तब सुख का अभिमान और ज्ञान का अभिमान उसे स्वरूप से गिरा देता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ।।७।।

बन्धु ! रागात्मक रजोगुण को तुम कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ समझो, यह जीवात्मा को कर्मों और उनके फल की आसक्ति से बाँधता है अर्थात् कर्म करने की प्रवृत्ति और तत्फल भोगने की आसक्ति उत्पन्न करके जीवात्मा को संसार बन्धन में डालता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।८।।

बन्धु ! सम्पूर्ण शरीराभिमाननियों को मोह में डालने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानो, वह जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य, और निद्रा के द्वारा बाँधता है। इसी के वशीभूत होकर व्यर्थ चेष्टा करने वाले करणीय कृत्य करने में आलसी और सोने को ही सुख का स्वरूप समझते हैं।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।।६।।

बन्धु ! इन तीनों गुणों के अलग–अलग कार्य हैं, सत्वगुण का जब उदय होता है तब वह जीव को सुख भोगने एवं सुखी रहने की चेष्टा में प्रवत्त करता है, रजोगुण का जब उदय होता है तब वह जीव को कर्म में प्रवृत्त करता है और जब तमोगुण का उदय होता है तब वह पुरुष के ज्ञान को आच्छादित करके प्रमाद में प्रवृत्त करता है।

रजस्तमश्चभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

हे सखे ! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्वगुण की अभिवृद्धि होती है, तथा रज सत् को दबाकर तमोगुण वृद्धिगत होता है, उसी प्रकार तमोगुण और सत्वगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ा करता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

हे भारत ! जिस समय में इस देह के सम्पूर्ण इन्द्रिय द्वारों में तथा अन्तःकरण में चेतनत्व और बोध उत्पन्न होता है, उस काल में यह समझ लेना चाहिये कि सत्वगुण वृद्धि भाव को प्राप्त हो रहा है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

हे भरतर्षभ ! रजोगुण की अभिवृद्धि होने पर लोभ और प्रवृत्ति, तथा सब प्रकार के कर्मों का स्वार्थबुद्धि से आरम्भ, एवं अशान्ति अर्थात् मन की चंचलता और विषय भोगों की लालसा उत्पन्न हुआ करती है, पुरुष संसार की परिवृद्धि में ही लगा रहता है अर्थात् जन्म–मरण के चक्कर में फँसे रहने का उपाय करता रहता है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

हे कुरुनन्दन ! तमोगुण की वृद्धि जिस समय होती है उस समय अन्तःकरण और इन्द्रियों में अज्ञानान्धकार छा जाता है, कर्तव्य कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति ही नहीं होती, आलस्य का आधिपत्य हो जाता है और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टायें होने लगती हैं तथा निद्रादि मोहनी वृत्तियाँ जीव को घेरे रहकर पथ भ्रष्ट कर देती हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।१४।।

हे सखे ! जब यह देहधारी जीवातमा सत्वगुण की वृद्धि के समय शरीर त्याग करता है तब तो पुण्य कर्मा उत्तम पुरुषों को प्राप्त होने वाले निर्मल अर्थात् दिव्य स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति उसे होती है, जैसे राजभवन के अनुकूल व्यक्ति ही राजभवन में पहुँचता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

बन्धु ! इसी प्रकार रजोगुण के बढ़ने के समय जब जीव शरीर छोड़ता है तब वह कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है और तमोगुण की अभिवृद्धि के समय देह त्याग करने वाला जीव कीट, पशु आदि मूढ़ योनि में जन्म लेता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

सखे ! उपर्युक्त गुणों से युक्त कर्मों के अनुष्ठान से जो फल प्राप्त होता है, समझ गये होगे, सात्विक कर्म का फल सात्विक अर्थात् सुख--दुख, ज्ञान वैराग्य आदि की प्राप्ति है जो निर्मल है, राजस कर्म का फल दुःख तथा तामस कर्म का फल अज्ञान है। अतएव गुणों के फलों को समझकर पुरुष को कर्म करने में प्रवृत्त होना चाहिये।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

बन्धु ! सत्व गुण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और रजोगुण से निश्चय ही लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति अवश्य होती है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थामध्ये तिष्ठन्तिराजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

बन्धु ! इसलिये सत्वगुण में स्थित हुये मनुष्य स्वर्गादि उच्च लोकों की प्राप्ति करते हैं और रजोगुण में स्थित हुये पुरुष मध्यम गति को अर्थात् मनुष्य लोक की प्राप्ति करते हैं तथा जघन्य गुण वृत्ति अर्थात् प्रमाद, निद्रा, मोह और अज्ञान के आकर अज्ञान में स्थित रहने वाले अधोगति अर्थात् कीट, पतंग पशु आदि नीच योनियों में जन्म लेते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१६।।

सखे ! जिस काल में द्रष्टा पुरुष गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणों में वर्तते हैं, ऐसा देखता है और गुणों से अति श्रेष्ठ मुझको तत्वतः जानता है, उस काल में वह पुरुष सच्चिदानन्दघन स्वरूप मुझ पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा के भाव को प्राप्त हो जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

हे सखे ! देह को उत्पन्न करने वाले इन तीनों गुणों से अतीत अर्थात् परे होकर जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था के सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है तथा परम पद में परमानन्द का अनुभव करता है क्योंकि प्रकृति के पार होते ही अप्राकृत आनन्द, अनुभव का विषय सहज ही बनता है, अन्धकार के पार जाने पर प्रकाश ही प्राप्त होता है।

अर्जुन उवाच :—

कैर्लिंगस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

इस प्रकार भगवान की रहस्यमयी वाणी सुन कर श्री अर्जुन बोले, हे प्रभो ! इन तीनों गुणों से अतीत हुये पुरुष में कौन—कौन लक्षण परिलक्षित

होते हैं और वह किस प्रकार के आचरणों से युक्त रहता है ? तथा कृपया यह भी बतलायें कि मनुष्य किस साधन के द्वारा गुणातीत हो सकता है ?

श्री भगवानुवाच :—

प्रकाशं च प्रवृतिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांड्क्षति।।२२।।

इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न करने पर श्री कृष्ण भगवान बोले, हे सखे ! जो पुरुष सत्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्य रूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह, प्रमाद आदि को भी न तो संप्रवृत्त होने पर बुरा समझता है और न इनसे निवृत्त होने पर इनकी आकाँक्षा करता है कि पुनः प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के व्यापार में लगूँ जैसे जल को किसी समय पर कंचन के घड़े में रख दें पुनः दूसरे समय ताँबें के घड़े में रख दें पुनः अन्य समय मिट्टी के घड़े में रख दें, परन्तु जल उक्त पात्रों में अपने को रखने की इच्छा नहीं करता और रख देने पर बुरा भी नहीं समझता कि मैं गंगा में प्रवाहित हो रहा था इन पात्रों में क्यों रखा गया, वैसे ही स्वस्वरूप सहज त्रिगुणातीत है, गुणों के कार्य में इन्द्रियों समेत लगे हुये विचार कर अपने को लगा हुआ न समझना चाहिये और न बुरा ही मानना चाहिये ऐसा न समझने से स्वरूप हानि के साथ गुणों के बन्धन में बँधना पड़ता है, गुणों के कार्यों से मन को निवृत्त हुये देखकर पुनः प्रवृत्त होने की इच्छा नहीं होनी चाहिये क्योंकि इच्छा ही बन्धन है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते।।२३।।

हे सखे ! जो गुणों के कार्य में उदासीन की तरह साक्षी रूप से स्थिति रहता है अर्थात् प्रकाश प्रवृत्ति और मोह को दूसरे से किया हुआ देखता है, गुणों के द्वारा जो विचलित नहीं किया जाता अर्थात् स्वस्वरूप में ही

स्थित रहता है, गुण गुणों ही में (अर्थात् इन्द्रियाँ अपने अर्थों में) वर्तते हैं ऐसी जानकारी जिसका साथ नहीं छोड़ती, जो सच्चिदानन्दघन पुरुषोत्तम भगवान में ही स्थित रहता है वहाँ से चलायमान नहीं होता वही गुणातीत है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

हे बन्धु ! जो पुरुष निरन्तर स्वस्वरूप में स्थित रहकर दुख–सुख को एक दृष्टि से देखता है, लोष्ट, पत्थर और सुवर्ण को समान समझता हैं और इष्टानिष्ट को तुल्य मानता है, अपनी निन्दा और स्तुति को बराबर जानता है अर्थात् अनुकूल को पाकर हर्ष और प्रतिकूल को पाकर अमर्ष नहीं करता सदा धैर्य रखता है अर्थात् निर्द्वन्द्व होने में सक्षम रहता है वही गुणातीत है।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

बन्धु ! जो मान–अपमान को बराबर और मित्र–शत्रु आदि उभय पक्षों को समान समझता है, जो सर्वारम्भों का त्यागी है, अर्थात् सर्व आरम्भों में कर्तापन के अभिमान आसक्ति और फलाशा से रहित है, वही गुणातीत कहा जाता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

हे सखे ! गुणातीत जो पुरुष के लक्षण सुन चुके अब गुणातीत होने का उपाय सुनो जो पुरुष अन्य आश्रय का परित्याग कर एवं मेरी शरण में रहकर अनन्य भक्ति–योग के द्वारा मेरा प्रेम पूर्वक भजन करते हैं, वे सत, रज, तम, तीनों गुणों को सम्यक प्रकार से उल्लंघन करके

सच्चिदानन्द पूर्णतम पर ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में एकीभाव होने के लिये अर्थात् प्रकृति सम्बन्ध के पार ब्रह्म सम्बन्ध प्राप्त करने के योग्य होते हैं, बिना मेरी अनन्यभक्ति का अवलम्ब लिये कोई भी ताल ठोंक कर अन्य उपायों के द्वारा गुणातीत होने में सक्षम नहीं हो सकता, अतएव तुम भी मेरी भक्ति का आश्रय ग्रहण करो, भक्ति निष्ठ हो जाओ, भक्ति से कोई भी कार्य असिद्ध नहीं होता अर्थात भक्ति परमात्मा को भी भक्ति के आधीन कर देने में जब समर्थ है तब अन्य कार्यों के सिद्धि में कहना ही क्या है ?

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

हे सखे ! अव्यय परब्रह्म परमात्मा का अमृत का तथा शाश्वत सनातन भागवद्धर्म का और एकान्तिक सुख अर्थात् अखण्डैक रस परमानन्द का मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् मैं वाच्य हूँ, ये सब नाम वाचक है, जैसे जगत में एक ही पुरुष के कर्म और क्रिया एवं गुण के अनुसार कई नाम रख दिये जाते हैं, वैसे ही मुझ नामी के ये अनेक नाम हैं।

तात्पर्यार्थ :–

जब तक गुणों (सत्, रज, तम) का संग है तब तक सुख–दुख जन्म–मरण आदि द्वन्द्वों के चक्की में पिसते ही रहना पड़ेगा, संसृति–सरिता के प्रवाह में न बहते हुये उस पार जाना असम्भव ही है, अतएव पुरुष को चाहिये कि वह गुणातीत हो जाय, गुणातीत होने का उपाय पुरुषोत्तम भगवान की अनन्य भक्ति है भक्ति के द्वारा प्रसन्न होकर सर्व समर्थ भगवान भक्त को गुणों से पार कर देते हैं इसलिये कल्याण कामी पुरुष के लिये परमेश्वर की अनन्य भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई श्रेष्ठ साधन नहीं है, समझकर भक्ति का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये, यही चौदहवें अध्याय में कहे हुये भगवान का सारतम संदेश है।

पंचदश—अध्याय

श्री भगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।१।।

पुनः भगवान बोले, बन्धु ! यह संसार अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष है, जिसका मूल ऊपर को है अर्थात ऊर्ध्वलोक निवासी आदि पुरुष पुरुषोत्तम भगवान ही इस संसार के उपादान, निमित्त और सहकारी कारण हैं, इसलिये इसे ऊर्ध्व मूल वाला कहा गया है और अविनाशी है अर्थात् संसार पहले रहा, अब भी है और आगे भी रहेगा, एवं नीचे की शाखा वाला यह वृक्ष है अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर भगवान के नित्यधाम से नीचे हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का धाम है जिससे संसार का विस्तार उसी प्रकार होता है जैसे शाखा से उपशाखा तथा छोटी छोटी टहनियों का विस्तार होता है इसलिये संसार रूप पीपल के वृक्ष को अघः शाखा वाला कहा गया है और जिसके वेद पत्ते हैं अर्थात् वेद विहित यज्ञादि कर्मों के द्वारा इस संसार वृक्ष की रक्षा, वृद्धि और शोभा होती है, इसलिये इसे वेदपत्र वाला बताया गया है, इस संसार वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्वतः जानता है वही वेद के सिद्धान्त को समझता है, अर्थात् परमात्मा कारण स्वरूप है उससे जो कार्य हुआ वह भी उससे पृथक नहीं है, इसलिये परमार्थ स्वरूप से सब संसार परब्रह्म स्वरूप ही है ऐसा जानकर अहंता ममता का त्यागकर किसी से घृणा—द्वेष न करे और शोक मोह के पार हो जाय तथा सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम भगवान में अनन्य प्रीति रखे सदा उन्हीं में रमा रहे यही तत्वतः जानना है। व्यवहार रूप में संसार क्षणभंगुर है इसी से इसको 'अश्वत्थ' अ+श्व+त्थ अर्थात् नहीं कल रहने वाला कहा गया है, इसलिये बुद्धिमान पुरुष इसमें आसक्त

नहीं होते हैं।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके ।।२।।

हे सखे ! सत्, रज, तम तीनों गुणों के जल से सिंचित होने के कारण बढ़ी हुयी एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, विषय भोग रूप कोपलों वाली देव, मनुष्य तिर्यक आदि योनि रूप शाखायें नीचे ऊँचे अर्थात स्वर्ग लोक, मनुष्य लोक और नागलोक आदि में सर्वत्र फैली हुई हैं और मनुष्य योनि में किये हुए कर्मों के अनुसार बाँधने वाली, अहन्ता, ममता और वासना रूप जड़ें भी नीचे, ऊँचे के सभी लोकों में विस्तार को प्राप्त हो रही हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते, नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।।३।।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।४।।

बन्धु ! इस संसार वृक्ष का स्वरूप जैसा शास्त्रों व पुराणों में विविध भाँति से वर्णन किया गया है व जैसा चर्म चक्षुओं से देखा जाता है और कानों से जैसा सुना जाता है, वैसा तत्व का बोध हो जाने पर उसी प्रकार नहीं पाया जाता जैसा कि जाग जाने पर स्वप्न का संसार। इस संसार की परम्परा कब से प्रारम्भ हुयी और कब इति को प्राप्त होगी इसकी कोई जानकारी किसी को नहीं है और न सम्यक् प्रकार से इसकी स्थिति ही है अर्थात् क्षणभंगुर और विनाशशील है, इसलिये कल्याणकामी पुरुष को चाहिये कि इस अहंता, ममता और वासनारूप दृढ़मूल वाले संसार रूप अश्वत्थ के वृक्ष को सुदृढ़ वैराग्य रूप शस्त्र से काटकर, तदोपरान्त उस परमपद स्वरूप परमेश्वर का अन्वेषण करे कि जिसमें गये हुए पुरुष पुनः लौटकर संसार में नहीं जन्म लेते और जब उन परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान

का बोध हो जाय कि जिनसे यह संसार की पुरातन परम्परा प्रकट हुई है, तब उनके शरण अर्थात् आश्रय को ग्रहण कर उन्हीं के अखण्ड भजन में लग जाय।

निर्मानमोहा जितसंग दोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।५।।

हे सखे ! जिनके मन में मान पाने की कामना समाप्त हो गई है, मोह से पार होकर आसक्ति रूप दोष को जिन्होंने जीत लिया है और अध्यात्म अर्थात् स्वस्वरूप में जिनकी निरन्तर स्थिति हो गयी है, समस्त वासनायें जिनकी निर्मूल हो चुकी हैं, ऐसे सुखदुःखादि नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानी जन ही उस अव्यय परम पद की प्राप्ति किया करते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।६।।

हे सखे ! जिस परम पद को प्राप्त कर जाने वाले पुनः लौटकर यहाँ नहीं आते, वही मेरा सच्चिदानन्दमय धाम है जो मेरे आत्मानुरूप है अर्थात् मुझ में और धाम में भेद नहीं है, वह मेरा परमधाम स्वयं प्रकाश स्वरूप है, उसको सूर्य चन्द्र और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते, अतएव वहाँ है ही नहीं, ये सब मेरे धाम के किंचित् प्रकाश को प्राप्त कर ब्रह्माण्ड के प्रकाशक बने हुये हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।७।।

हे बन्धु ! इस जीव लोक अर्थात् शरीर में जीवात्मा को तुम मेरा ही सनातन अंश समझो और वही प्रकृतिस्थ मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है जैसे महदाकाश एक और अणु अणु में व्याप्त होते हुये भी घटों में पृथक पृथक की भाँति प्रतीति में आता है, वैसे ही परमात्मा

भी एकीरूप से सम्पूर्ण देहधारियों में स्थित होता हुआ भी पृथक्–पृथक् प्रतीत होता है वास्तव में है एक, इसी से जीवात्मा को भगवान ने अपना अंश वैसे ही कहा है जैसे महाकाश का अंश घटाकाश है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।।८।।

बन्धु ! जैसे वायु गंध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके वहीं ले जाता है कि जहाँ वह जाता है, वैसे ही शरीरादिकों का स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीर से उत्क्रमण करता है उससे मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके पुनः जिस शरीर को प्राप्त करता है, उसमें प्रवेश करता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।६।।

सखे ! प्राप्त शरीर में पहुँचकर यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना, घ्राण, और मन को आश्रय करके अर्थात् इनकी सहायता से विषयों का सेवन करता है। सब विषयों के सेवन में मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ ही कारण है, परम धाम को प्राप्त करने वाले जीव के साथ ये सब नहीं जाती है, इनका रहना प्राकृत प्रदेश में है, अप्राकृत में नहीं।

उत्क्रामन्तं स्थितंवापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।१०।।

हे सखे ! शरीर से उत्क्रमण करते हुये को व शरीर में स्थित हुये को और विषय सेवन करते हुये को तथा तीनों गुणों से युक्त हुये को अज्ञानी जन नहीं जानते हैं, केवल ज्ञान नेत्र वाले ज्ञानी जन ही देख पाते हैं; अर्थात् तत्वतः जानते हैं। उपर्युक्त कार्यों का करने वाला जीवात्मा ही है, परन्तु स्वस्वरूप का ज्ञान न होने से अज्ञानी अहंता ममता की अंधेरी के कारण कुछ नहीं जान पाता।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य चेतसः ।।११।।

बन्धु ! अध्यात्म ज्ञान हो जानना सरल नहीं है क्योंकि योगी जन भी इस आत्मा को जो कि अपने हृदय में ही स्थित है, असाधारण यत्न करते हुये ही तत्वपूर्ण जान पाते हैं और जो अकृतात्मा हैं अर्थात् जिनका अन्तःकरण निष्काम कर्म आदि उपायों से शुद्ध नहीं हुआ है, वे अज्ञानी लोग अनेक यत्न करते हुये भी इस आत्मा को नहीं जानते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।१२।।

सखे ! जो तेज सूर्य में स्थित होकर सारे विश्व को प्रकाशित करता है और जो तेज (प्रकाश) चन्द्रमा में है तथा जो तेज अग्नि में है वह तेज मुझ परमात्मा का ही तुम समझो, अर्थात् सारा संसार परमात्मा से ही प्रकाशित जानना चाहिये, जैसे प्राण के रहते ही शरीर में इन्द्रिय, मन, बुद्धि और देवता रहते हैं, प्राण छूट जाने पर सब शरीर से निकल जाते हैं। इसी प्रकार परमात्मा के रहते ही अखिल विश्व प्रकाशित हो रहा है, उन्हीं की शक्ति व प्रेरणा से संसार चक्र चल रहा है यदि वे अपना प्रकाश व शक्ति हटा लें तो सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु—जल, इन्द्र और विषय, इन्द्रिय देवता, जीव इत्यादि सब अप्रकाशित ही रहेंगे।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।१३।।

हे सखे ! मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सम्पूर्ण भूत समूहों को धारण करता हूँ, और रस स्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा बनकर सम्पूर्ण वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ, अर्थात् अचर जगत का भी मैं ही धारक और पोषक हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।१४।।

हे सखे मैं ही समस्त भूतों की देह में स्थित वैश्वानर अग्नि रूप होकर प्राण और अपान से युक्त चार प्रकार के अन्न (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य) को पचाता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।।१५।।

बन्धु ! मैं ही समस्त प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से निवास करता हूँ, और जीवात्मा के अन्तःकरण में स्मृति ज्ञान तथा अपोहन अर्थात बुद्धि में स्थित विपर्यय आदि दोषों को विचार के द्वारा दूर करना आदि होता है, वह सब मेरे से ही अर्थात् मेरी शक्ति व प्रेरणा से होता है, सिद्धान्त का सारतम अर्थ यह हुआ कि वेदों द्वारा जानने योग्य एक मैं ही परमात्मा हूँ और वेदान्त का कर्ता और वेदों का जानने वाला भी मैं ही हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।१६।।

हे सखे ! लोक में नष्ट होने वाले और अविनाशी दो प्रकार के पुरुष हैं, जिन्हें क्षर–अक्षर, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ और अपराप्रकृति–परा प्रकृति के नाम से कहा गया है, उनमें समस्त भूतों के शरीर तो नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है, सृष्टि इन दोनों के संयोग से ही संभव है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१७।।

बन्धु ! क्षर–अक्षर इन दोनों से उत्तमपुरुष (पुरुषोत्तम भगवान) तो अन्य ही हैं जो त्रिलोक में प्रवेश करके सबका धारक और पोषक है जिसे

अविनाशी, परमेश्वर, परमात्मा आदि नामों से पुकारा जाता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।१८।।

सखे ! इसलिये मैं नष्ट प्राय अचेतन वर्ण से सर्वथा अतीत अर्थात परे और विलक्षण ही हूँ, अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, अतएव यही कारण है कि लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। क्योंकि प्रकृति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहता और न मैं उसके आधीन कभी होता।

यो मामेवमसंमूढ़ो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१६।।

हे भारत ! इस प्रकार तत्वतः जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा से भी अत्युत्तम पुरुष समझता है वह सर्वज्ञ है क्योंकि मुझको जान लेने के पश्चात उसका सब जाना हुआ हो जाता है, अतएव सर्व भावेन निरन्तर मुझ परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का भजन करता है, वास्तव में बिना परमात्म ज्ञान के सर्वभावेन भजन होना असम्भव है किसी वस्तु के स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता समझ लेने पर उसे उपयोग में लाकर लोग लाभ उठाया करते हैं।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धि मान्स्यांत्कृतकृत्यश्च भारत ।।२०।।

हे भारत ! यह रहस्यमय अति गोपनीय शास्त्र का सिद्धान्त तुमसे मैंने वर्णन किया है, तत्वतः इसकी जानकारी से पुरुष ज्ञानी और कृतार्थ हो जाता है अर्थात् उसको कुछ करना शेष नहीं रहता, वास्तव में पुरुषोत्तम भगवान का ज्ञान पाकर बुद्धि का कार्य समाप्त हो जाता है। जिसके बुद्धि में भगवत ज्ञान आ जाय, वही बुद्धिमान है और जो भगवत कथित उपाय का अवलम्बन लेकर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति कर लेता है उसके

लिये किसी प्राप्तव्य के लिये कुछ करना शेष नहीं रह जाता इसलिये वह कृतकृत्य हो जाता है।

तात्पर्यार्थ

संसार अश्वत्थ का वृक्ष है अर्थात् आज है कल नहीं रहने वाला है इसमें सार वस्तु कोई नहीं है सभी क्षण–भंगुर और नाशवान है, इसलिये इससे आसक्ति हटाकर वह आसक्ति सृष्टिकर्ता परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में स्थापित कर देना चाहिये क्योंकि परमात्मा प्रकृति और जीवात्मा से सर्वथा उत्तम एवं सबका धारक और पोषक है, बिना उसके विश्व संचालन असम्भव हैं। उसी के तेज एवं शक्ति व प्रेरणा से सभी सृष्टि के चराचर प्राणी प्रकाशित होकर अपना अपना कार्य कर रहे हैं, वह सब में समाया हुआ है, उसके बिना किसी की स्थिति नहीं है अतएव उसका आश्रय ग्रहण कर प्रेमाभक्ति पूर्वक उसके भजन में निरत रहना चाहिये, जिससे संसार चक्र से छूटकर परमपद स्वरूप परमानन्द की प्राप्ति हो जाय एवं जीव का परम पुरुषार्थ सिद्ध हो जाय, तभी यह जीवात्मा कृतार्थ होगा, यही पन्द्रहवें अध्याय में कहे हुये भगवान के उपदेश का सारतम संदेश है।

षोडश-अध्याय

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।१।।

सखे ! यह संसार दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति से युक्त है अर्थात् दैव और आसुर भाव से ही सृष्टि चल रही है, अतएव कुछ लोग दैवी सम्पत्ति से युक्त होते हैं और कुछ लोग आसुरी सम्पत्ति से, अस्तु अब मैं तुमसे दैवी सम्पत्ति प्राप्त पुरुषों के लक्षण अर्थात् दैवी सम्पदा के प्रकारों को पृथक् पृथक् कहता हूँ।

सबसे प्रथम अभय नाम की सम्पत्ति कही गयी क्योंकि इसके बिना साधन क्रम सब निष्प्राण रहते हैं, इसलिये जीव को सर्वप्रथम अभयी बन जाना चाहिये, जैसे चोरों के भय से सम्पत्ति जब बड़े बैंक में जमा कर दी जाती है तब धन की चोरी का भय बिना साधन के चला जाता है, सर्व समर्थ राजा के रक्षकत्व में रहने वाले को अपने विरोधी वर्ग का भय सहज समाप्त हो जाता है तथा अपने से सम्बन्धित वस्तु को अपनी न मानने से भी चोरों का भय दूर भाग जाता है वैसे ही अपने किये हुये सभी कर्मों के फल को भगवदर्पण पुरुष करता रहे एवं कभी फलाशा का स्पर्श न करे और सर्व समर्थ सर्वलोक शारण्य पुरुषोत्तम भगवान की शरण में सर्वभावेन हो जाय तथा गुणातीत बनकर सब करते भी कुछ न करे अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व अभिमान से अछूता रहकर स्वस्वरूप में स्थित रहे तो वह स्वाभाविक अभयी हो जाता है। खजूर के पेड़ में न चढ़े, बढ़ी नदी में न तैरे तो गिरने और बहने का भय कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार अभिमान और तृष्णा से पृथक रहने पर भय का स्वप्न भी जीव को नहीं हो सकता।

दैवी सम्पदा का दूसरा गुण है सत्व संशुद्धि–

अन्तःकरण की शुद्धि का नाम है सत्व संशुद्धि जिसमें रज–तम का अभाव होकर सत्वगुण की ही परिवृद्धि रहती है किन्तु गुणातीत होना इसके बाद की स्थिति है जैसे गदरीला आम न तो कच्चा ही रहता और न रसदार ही।

दैवी गुणों में तीसरा गुण है ज्ञान योग व्यवस्थिति–

ज्ञान योग की सिद्धि की सुचारू भूमिका का नाम है ज्ञान योग व्यवस्थिति जिसका वर्णन भगवान ने तेरहवें अध्याय के सातवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक किया है।

दिव्यगुणों में चौथा गुण है दान–

भौतिक एवं आध्यात्मिक वस्तु को किसी आर्त या जिज्ञासु को उसके सुख तथा कल्याण के लिये अपना सर्वथा सम्बन्ध हटाकर समर्पित कर देना दान कहलाता है जिसमें अपने लौकिक पारलौकिक स्वार्थ की गन्ध न हो। जैसे वृक्ष अपने सम्पूर्ण अंगों को अर्थात् फल, फूल, पत्ता, डाल, तना, मूल को किसी भी चाहने वाले को बिना किसी हिचकिचाहट के दे देता है वैसे ही दैवी सम्पत्ति से युक्त पुरुष समय आने पर सर्वस्व दान कर देता है।

दैवी सम्पत्ति का पाँचवाँ गुण है दम–

इन्द्रिय निग्रह को दम कहा गया है, जैसे सारथी लगाम के द्वारा रथ में नथे हुये घोड़ों को कुपथ में जाने से रोक लेता है, तथा चरवाहे जैसे अन्न के खेतों में जाने वाली गायों को लौटाकर गोष्ट में कर लेते हैं, और नीचे बहते हुये जल को बाँध बनाकर जैसे रोक कर ऊपर की ओर ले जाया जाता है, वैसे ही विषय की ओर दौड़ने वाली इन्द्रियों को दम के द्वारा विषय से विमुख कर साधक परमात्मा में लगा देता है।

दैवी सम्पदा का छठवाँ गुण है यज्ञ–

परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान को उद्देश्य करके अपने अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का सुचारु रूप से पालन करना यज्ञ है तथा परमात्मा के नाम का जप, रूप का ध्यान, लीला का चिन्तन करना यज्ञ है, जो स्वाध्याय यज्ञ, आत्मयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्रेमयज्ञ आदि नामों से कहे जाते हैं।

दैवी सम्पत्ति का सातवाँ गुण है स्वाध्याय–

परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान कराने वाले श्रुति, शास्त्र, पुराण, इतिहास, स्मृति आदि ग्रन्थों का पठन–पाठन स्वाध्याय कहलाता है। कूप इसलिये लोग खोदते हैं ताकि पानी निकल आये, हीरा आदि के निकालने के लिये लोग पृथ्वी खोदते है, परन्तु लक्ष्य की अप्राप्ति से परिश्रम ही जैसे हाथ लगता है, वैसे ही वेद आदि पढ़कर भी ब्रह्म प्राप्ति न हुयी तो फल में श्रम ही सुलभ हो पाता है। अपने दुःख दोषानुदर्शन, आध्यात्मिक उन्नति, अवनति को गहराई से अध्ययन करते रहना भी स्वाध्याय कहलाता है।

दैवी सम्पदा का आठवाँ गुण है तप–

शरीर वाणी और मन को संयमित करने का नाम तप है जो क्रमशः, अल्पाहार, मौन और अचंचल पन से संभव होता है, तप में तेज का विस्तार होता है। कंचन को अग्नि में तपाने से जैसे वह खरा और निर्मल हो जाता है, वैसे ही तपस्या के द्वारा पुरुष निर्मल और स्वरूपानुरूप स्थिति वाला बन जाता है।

दैवी सम्पत्ति का नववाँ गुण है आर्जव–

अन्तःकरण के सौजन्य को आर्जव कहते हैं जिसका प्रभाव इन्द्रियों और शरीर में सहज ही रहता है, इस गुण के रहने से मन–वचन और शरीर में सच्ची सरलता का सहज दर्शन होता है जैसे हीरे की भीतरी चमक

ही बाहर चमकती है वैसे ही आर्जव गुण अन्तःकरण में होते हुये भी शरीर और इन्द्रियों में भी प्रकाशित होता है।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।२।।

बन्धु ! दैवी सम्पत्ति का दशवाँ गुण है अहिंसा–

किसी भी जीव को मन वचन और शरीर से दुखी न करना तथा अन्य के द्वारा कष्ट पाने तथा त्रितापों से संतप्त होने को भी न सोचना अहिंसा कहलाता है जिसे प्राप्त कर अपने से अहित करने वाले पर भी उसके अहित की किंचित् भावना का भी विनाश हो जाता है। अहिंसक के स्थान पर परस्पर विरोधी सिंह आदि जीव विरोध करना परित्याग कर देते हैं जैसे वृक्षों को लोग डंडे मारकर फल लेते हैं काट कर उनसे लकड़ी पाते हैं वैसे ही अहिंसा व्रत धारण करने वाले पुरुष के विरोधी उनके बुराई करने पर भी, उनसे भलाई ही पाते हैं।

दैवी सम्पत्ति का ग्यारहवाँ गुण है सत्य–

देखी, सुनी और समझी हुई वार्ता को यथातथ्य बोलने का नाम सत्य है, जिसमें प्रियता और सर्वभूत हितैषणा का पुट दिया रहता है। सत्य संभाषण करने वाले की वाणी चन्द्रमा की किरणों के समान लोकप्रिय होती है और औषध के समान सुनने वाले के लिये हितकारी सिद्ध होती है। सत्य वाणी, सत्य आचरण और सत्य स्वरूप परमात्मा में चित्त का स्थिर हो जाना पूर्ण सत्य है। कसौटी में कसे एवं अग्नि में तपाये हुये निर्मल सोने का जैसे सब कोई सम्मान करते हैं वैसे ही सत्य का आदर सर्वत्र और सब कोई करते हैं।

दैवी सम्पदा का बारहवाँ गुण है अक्रोध

अपने प्रतिकूल स्थिति अर्थात् गाली निन्दा मार आदि अनुचित व्यवहार

किसी के द्वारा प्राप्त होने पर अमर्ष का न होना अर्थात् मन में किंचित उत्तेजना के आविर्भाव के अभाव को ही अक्रोध कहते हैं।

दैवी सम्पत्ति का तेरहवाँ गुण है, त्याग–

स्वधर्मानुसार किये हुये कर्मों के फल को भोगने की कामना का सर्वथा न होना ही त्याग कहलाता है अथवा यों कहिये कि अपने सर्व स्वत्व को सर्वभावेन भगवत् समर्पण कर देना ही त्याग है, चित्त का त्याग ही सर्व त्याग है चित्त वासनामय है और वासना बिना अहम् के नहीं होती, अतएव अहं के त्याग को ही मनीषी लोग सर्वत्याग कहते हैं। सर्प केंचुली को जैसे त्याग करके पुनः उसे नहीं पहिनता है, उसी प्रकार आत्मा में लगे हुये अहंकार रूपी आवरण को त्याग कर स्वरूपज्ञ पुनः उसे नहीं धारण करते।

दैवी सम्पत्ति का चौदहवाँ गुण है शान्ति–

मन की निर्विकल्प अवस्था को शान्ति कहते हैं जिसमें इच्छा–अनिच्छा और ग्रहण त्याग तथा करने और न करने के आग्रह का सर्वथा त्याग सर्वभावेन समाहित रहता है, चित्त के निरोध हो जाने पर ही शान्ति सुख के प्रदेश में साधक विचरण कर सकता है।

दैवी सम्पत्ति का पन्द्रहवाँ गुण है अपैशुन–

किसी की निन्दा एवं चुगली न करने का ही नाम अपैशुन है। किसी की भी निन्दा करना अपने समीप महान महान पापों को आमन्त्रण देना है, निन्दक पाप की साकार मूर्ति बन जाता है, जैसे दुर्गन्धित वस्तु की बार–बार आवृत्ति एवं उसके ध्यान से मनुष्य का मन दुर्गन्ध से भरकर अकुला उठता है, उसी प्रकार निन्दक पापों के आकार वाला बन जाता है।

दैवी सम्पत्ति का सोलहवाँ गुण है भूत दया–

किसी के दुखों को देखकर स्वयं उसके दुःख से अभिभूत हो जाने का नाम दया है। दयावान पुरुष किसी भी जीव के दुख को देखकर असहिष्णु हो जाता है और उसके दुख निवृत्ति के लिये भरसक प्रयत्नशील हो जाता है जैसे पैर में कंटक लग जाने पर लोग उसे निकालकर ही आगे बढ़ते हैं, उसी प्रकार, दयावान पुरुष प्राप्त दुखों के दुख निवारण की वार्ता विचार कर ही अन्य विषयक वार्ता का विचार करते हैं।

दैवी सम्पत्ति का सत्रहवाँ गुण है अलोलुपत्व–

दृष्ट और श्रुत पदार्थों को देख व सुनकर उन्हें पाने के लिये जी के न ललचने, एवं प्राप्त कर उनमें आसक्ति के न होने का नाम अलोलुपत्व है, जैसे चंचरीक, सुन्दर सुगंधित अप्राप्त चम्पा के गन्ध की न इच्छा करता और चम्पे के बगीचे को भी प्राप्त कर न उसमें आसक्त होता, वैसे ही अलोलुप पुरुषों की दशा को समझना चाहिये।

दैवी सम्पत्ति का अठारहवाँ गुण है मार्दव–

कोमल स्वभाव का ही नाम मार्दव है, चन्द्रमा में जैसे शीतलत्व और प्रियकरत्व सहज ही समाहित रहता है वैसे ही मार्दव गुण वाले पुरुष का दर्शन प्रियकर और शीतल अर्थात् शान्ति प्रदायक होता है।

दैवी सम्पत्ति का उन्नीसवाँ गुण है ह्री–

लज्जा लगने का नाम है ह्री। ह्री से युक्त पुरुष लोक विरुद्ध और शास्त्र के प्रतिकूल व्यवहार करने में अति लज्जित होता है। अनेकों जन्म अनेकों योनियों में धारण करने की स्मृति भी उसे लज्जा प्रदान करती है, वह सोचता है कि हाय कितनी बार मल मूत्र के बीच पड़ा रहा, अबकी बार मुक्त न हुआ, इससे तो मुझे अति लज्जा के समुद्र में मग्न होना पड़ेगा।

दैवी सम्पदा का बीसवाँ गुण है अचापल्य–

मन के संकल्प विकल्प शान्त भाव को प्राप्त हो जाने को ही अचापल्य कहते हैं। जब तक मन में बन्दर की तरह चंचलाहट बनी रहती है तब तक परमार्थ–पथ में प्रवेश नहीं होता, पानी के आन्दोलित दशा में जैसे अपने मुख का प्रतिबिम्ब नहीं दीखता, वैसे ही चंचल मन में आत्मा व परमात्मा के प्रति आस्था नहीं होती।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।३।।

दैवी सम्पत्ति का इक्कीसवाँ गुण है तेज–

सखे ! आत्मा की एक उभड़ती हुयी अर्थात् शरीर पर प्रभाव डालती हुयी शक्ति को ही तेज कहते हैं, जिससे सामने आने वाले व्यक्ति बिना प्रभावित हुये नहीं रह सकते, जैसे श्री शुकदेव जी (जो षोडस वर्षीय वपु वाले थे) को आते देखकर, व्यास जी समेत सभी मुनि समाज एवं राज समाज को उनका सम्मान करने के लिये उठना ही पड़ा, इसी प्रकार सती स्त्रियों का तेज सबको बिना आकृष्ट किये नहीं रहता।

दैवी सम्पत्ति का बाइसवाँ गुण है क्षमा–

किसी के द्वारा किये हुए अपने प्रतिकूल आचरण को सर्वभावेन सहकर अपराधी के अहित का चिन्तन न करना ही क्षमा है। क्षमाशील पुरुष अपने प्रति किये हुये प्रतिकूल आचरणों का कर्ता किसी को नहीं मानता, उसके ज्ञान में सब अपने कर्मफल का विपाक है, अपनी शुद्धि के लिये परमात्मा की इच्छा से प्रतिकूलता का दर्शन हो रहा है, अपराध करने वाले को केवल निमित्त मानता है, इसलिये उससे द्वेष नहीं करता, उल्टे उस पर प्रेम और उपकार करता है। जैसे बासी कढ़ी में उफान नहीं आता, गोली मारने पर भी पर्वत कुपित नहीं होते, उसी प्रकार क्षमाशील पुरुष के हृदय में किंचित क्रोध नहीं उत्पन्न होता।

दैवी सम्पत्ति का तेइसवाँ गुण है धृति–

जीवन के उतार–चढ़ाव एवं संघर्ष और कठिन से कठिन आपत्ति के समय में भी धैर्य के न खोने का नाम धृति है। वृक्ष, अति वर्षा, अति जाड़ा और अति गर्मी के पड़ने पर भी अपने धैर्य को नहीं खोते। पत्र हीन हो जाते हैं, फिर भी धैर्य को न खोकर खड़े रहते हैं, समय आने पर पुनः पल्लवित और पुष्पित हो जाते हैं। वैसे ही धृतिमान पुरुष की स्थिति समझनी चाहिये।

दैवी सम्पत्ति का चौबीसवाँ गुण है शौच–

देह और अन्तःकरण की पवित्रता को ही शौच कहते हैं। मिट्टी और जल से शरीर की शुद्धि तथा मन की निर्मलता से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, जैसे सर्व स्पर्श से नारी मलिन कही जाती है और अनन्य स्पर्श से परम पवित्रा मानी जाती है, वैसे ही संसार के सर्व विषयों के चिन्तन से चित्त अशौच रहता है और एक पुरुषोत्तम भगवान के चिन्तन से सदा शौच अवस्था में स्थित रहता है।

दैवी सम्पत्ति का पच्चीसवाँ गुण है अद्रोह–

किसी जीव के अहित चिन्तन एवं द्वेष न करने का नाम अद्रोह है। अद्रोही पुरुष किसी को अपना शत्रु नहीं समझता और अपने से विरोध करने वाले की भी मंगल कामना करता है। वृक्ष जैसे अपने को काटने वाले का भी हित अपनी अंग भूत सामग्रियों को देकर करते हैं, वैसे ही अद्रोही पुरुषों के लक्षणों को समझना चाहिये।

दैवी सम्पत्ति का छब्बीसवाँ गुण है नातिमानिता–

अमानी बन करके रहना अर्थात् दूसरे से सम्मान एवं आदर पाने की कामना के अभाव को ही नातिमानिता कहते हैं। मानी पुरुष अपने मान की रक्षा के लिये अहं, मम, दम्भ पाखण्ड आदि दोषों को अपने हृदय में

सतत बसाये रहता है जिससे पतन का भय उसके साथ सदा रहता है और अमानी पुरुष दोष हीन और पतन के भय से मुक्त रहता है।

हे सखे ! उपर्युक्त लक्षण दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुये पुरुषों के हैं। दैवी भाव को प्राप्त करने की कामना रखने वाले को चाहिये कि अपने हृदय में उपर्युक्त गुणों को प्रयत्न पूर्वक बसा ले।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।।४।।

बन्धु ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कर्कश वाणी और अज्ञान इत्यादि दुर्गुण आसुरी सम्पत्ति को प्राप्त हुये पुरुषों में दिखाई देते हैं, अतः तुम्हें दैवी भाव और आसुरी भाव को प्राप्त हुये पुरुषों को लक्षण देखकर पहचान लेना चाहिये।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।।५।।

बन्धु ! इन दोनों में दैवी सम्पदा तो मोक्ष का हेतु है अर्थात् दैवी गुणों से भव बन्धन छूट जाता है और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का हेतु मानी गई है। तुम तो दैवी सम्पत्ति को लिये हुये ही उत्पन्न हुये हो, इसलिये शोक मत करो, तुम्हारी मुक्ति में कोई संदेह नहीं है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ में श्रृणु ।।६।।

हे सखे ! लोक में दो प्रकार के स्वभाव वाले भूतों की सृष्टि देखने में आती है, एक तो देवों की भाँति और दूसरी असुरों के समान स्वभाव वाली। देव भाव का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है, अब तुम मुझसे आसुरी भाव को भी विस्तार पूर्वक श्रवण करो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।७।।

हे बन्धु ! आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य कर्तव्य कर्म की प्रवृत्ति और अकर्त्तव्य कर्म की निवृत्ति का ज्ञान नहीं रखते, वे स्वेच्छाचारी उच्छृंखल जो मन में आया उसमें प्रवृत्त हो जाते हैं चाहे वह कार्य कितना ही निन्दनीय क्यों न हो और जो मन नहीं माना उसे भूलकर नहीं करते चाहे वह कितना ही प्रशंसनीय उत्तम कर्त्तव्य कर्म क्यों न हो, इसलिये उनमें बाह्य और अभ्यन्तर की शुद्धि नहीं होती, वे मलिनकाय और अशुद्ध अन्तःकरण वाले कभी भी आर्योचित श्रेष्ठ आचरण नहीं करते और न उनकी वाणी में सत्य का स्पर्श ही होता, जैसे गन्दी नाली में पड़े हुये कीड़े कालक्षेप करते हैं, उसी प्रकार उनका जीवन व्यतीत होता है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्चरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।।८।।

हे सखे ! आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कहा करते हैं कि इस जगत की प्रतिष्ठा नहीं है। अर्थात् यह किसी के आश्रित नहीं है, सर्वथा झूठा है। यह बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है, इसलिए इसकी सार्थकता केवल भोगों के भोगने ही में है, इसके अतिरिक्त और क्या है ?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणःक्षयाय जगतोऽहिताः ।।९।।

हे सखे ! इस प्रकार इस मिथ्या ज्ञान के अन्धकार का अवलम्बन करके उन अल्प बुद्धि वालों का आत्मभाव विनष्ट हो जाता है, ऐसे जगत का अहित करने वाले क्रूर कर्मा मनुष्य संसार का विनाश करने ही के लिये उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे केतु का उदय जगत को कष्ट पहुँचाने

ही के लिये होता हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

बन्धु ! वे दम्भी, मानी और घमंडी पुरुष किसी बड़े प्रयास से भी पूर्ण न हो वाली कामनाओं का आश्रय ग्रहण करके तथा मोह वश असत् (मिथ्या) सिद्धान्तों को अपना कर आचरण भ्रष्ट हो जाते हैं और संसार में इस प्रकार के वर्तने से देखा देखी आसुरी भाव की अभिवृद्धि होती है।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

हे सखे ! वे आसुरी भाव से युक्त पुरुष मरण पर्यन्त अनन्त चिन्ताओं के आधीन बने हुये विषय भोगों के भोगने में ही निरत रहते हैं और मात्र इतना ही आनन्द है ऐसा मानने वाले होते हैं विषय भोग करते करते विषयी मर जाते हैं किन्तु विषय से अतृप्त ही बने रहते हैं, यही कारण है कि उन्हें चौरासी लाख योनियों में सदा चक्कर लगाना पड़ता है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१२।।

हे सखे ! आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुष आशा की सैकड़ों फाँसियों से जकड़े हुये रहते हैं, इसलिये काम क्रोध के परायण बनकर विषय भोगों की पूर्ति के लिये अन्याय पूर्वक पर धन, पर स्त्री आदि विषय सामग्रियों के संग्रह करने की चेष्ठा में सदा लगे रहते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

हे बन्धु ! आसुर भाव को प्राप्त हुये पुरुष अहंकार पूर्वक विचार किया

करते हैं कि आज मैंने यह प्राप्त किया और आगे अपने मनोरथ को पूर्णरूपेण प्राप्त हो जाऊँगा, मेरे पास इस समय इतना धन है आगे और भी हो जायगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
इश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।।१४।।

सखे ! उन आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुषों के विचार बड़े बुरे हुआ करते हैं, वे कल्पना करते हैं कि अमुक शत्रु को मैंने मार डाला है, शेष शत्रु भी मुझसे बचने वाले नहीं हैं, अवश्य, अवश्य उनको मैं मार डालूंगा। मैं ही ईश्वर अर्थात् सब पर शासन करने वाला सर्व समर्थ हूँ, अतएव मन चाहे सम्पूर्ण भोगों को भोगने वाला हूँ, मैं ही महासिद्ध हूँ, सारी सिद्धियाँ मेरा अनुवर्तन करतीं हैं, एक मात्र मैं ही बलवान और सुखी हूँ।

आढयोऽभिजन वानस्मि
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य
इत्यज्ञानविमोहिताः ।।१५।।

हे बन्धु ! इस प्रकार अभिमान के आकाश में महल बनाने वाले वे लोग अपने से बड़ा किसी को नहीं मानते, कहा करते हैं कि मैं ही एक मात्र धनवान हूँ, मेरे समान बड़े कुटुम्ब वाला कोई नहीं है। प्रत्येक पहलू में मेरे समान मैं ही हूँ, दूसरा नहीं, अतएव मैं यज्ञ का अनुष्ठान करूँगा और बहुत दान दक्षिणा ब्राह्मणों को दूँगा, तब तो मैं महान हर्ष को प्राप्त हो जाऊँगा क्योंकि लोक में चारों ओर मेरे ही यश का गान होगा, इस प्रकार अज्ञान की मदिरा का पान कर सदा वे मोह की रात्रि में सोते रहते हैं।

अनेकचित्त विभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१६।।

हे बन्धु ! इसलिये अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले वे लोग सदा मोह

के जाल में फँसे हुये विषय भोगों में अत्यन्त आशक्त बने रहते हैं, जिसके परिणामस्वरूप अत्यन्त दुखदायक महाअपवित्र नरक की प्राप्ति करते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।।१७।।

हे सखे ! आसुरी भाव से भरे हुये अपने आप अपने को बहुत बड़ा मानने वाले अभिमानी पुरुष धन और मान के मद में मतवाले बने रहते हैं, उसी मत्त अवस्था में और–और नाम पैदा करने की इच्छा करके पुण्यात्माओं की पंक्ति में भी बैठने की कामना करते हैं, इसलिये शास्त्र विधि से विहीन केवल नाम मात्र के यज्ञों का अनुष्ठान दम्भपूर्वक किया करते हैं, जिससे स्वयं अपना परलोक बिगाड़ते हैं।

अहंकार बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।।१८।।

हे सखे ! अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधादि के वशीभूत हुये दूसरे की निन्दा करने वाले मनुष्य अपने और दूसरों की देह में स्थित मुझ अन्तर्यामी से बहुत बड़ा द्वेष करने वाले हैं, इसलिये वे मेरे द्रोही उसी प्रकार नष्ट होते हैं जैसे अग्नि को पैर से कुचलने वाले पुरुष।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।१६।।

हे बन्धु ! शुभाशुभ कर्म फल को प्रदान करने वाला मैं स्वयं ऐसे उंन द्वेष करने वाले नराधमों, पापमूर्तियों और क्रूर पुरुषों के लिये काल बन कर उनके किये हुये कर्मों के अनुसार फल स्वरूप आसुरी योनि में गिरा देता हूँ अर्थात् कूकर, शूकर आदि नीच योनियों में उत्पन्न कर उन्हें दुख की मूर्ति बना देता हूँ, जैसे घोड़ा जब बार–बार अपने स्वामी को अपनी पीठ से गिरा देता है तब वह अश्वपति घोड़े को घोड़ागाड़ी वाले के हाथ

बेच देता है जिससे वह दौड़ दौड़ कर चाबुक की मार खा खाकर अल्प दिनों ही में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही सबसे द्वेष करने वाले अर्थात् सबका अन्तर्यामी होने के कारण मेरे साथ द्रोह करने वालों की दुर्दशा होती है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।२०।।

इसलिये हे सखे ! वे मूढ़ पुरुष जन्म जन्म में आसुरी योनि को ही प्राप्त किया करते हैं, मुझे न प्राप्त करने के कारण ही वे अत्यन्त नीच गति अर्थात् घोर से घोर नरकों को प्राप्त हुआ करते हैं जैसे प्रकाश का त्याग करने वाला अन्धकार में ही निवास करता है, अमृत का अनादर करने वाला मृत्यु का ही आलिंगन करता है उसी प्रकार उत्तम गति का आश्रय न लेने वाला नीच गति का ही आश्रयण ग्रहण करता है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।२१।।

बन्धु ! काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं, अर्थात् इनको अपनाने से निश्चय नरक की ही प्राप्ति होती हैं, ये आत्मा का विनाश करने वाले हैं, अर्थात् इनका सेवन करने वाला स्वस्वरूप को भूलकर अनात्मा (देह) को ही आत्मा मानने लगता है। ये अज्ञान, अन्यथा ज्ञान और विपरीत ज्ञान के उत्पादक है, इसलिये मोक्ष कामियों को चाहिये कि दूर ही से इन तीनों का त्याग कर दें जैसे– जहाँ रात्रि होती है वहाँ दिन नहीं होता वैसे ही जहाँ कामादि रहते हैं वहाँ परमार्थ तत्व की गन्ध नहीं होती।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।२२।।

हे कौन्तेय ! इन तीनों नरक के द्वारों अर्थात् काम क्रोध और लोभ

से सर्वथा विमुक्त हुआ पुरुष ही अपने कल्याण प्राप्ति के साधन में समर्थ होता है और अन्त में साध्य स्वरूप परमगति अर्थात् मुझको प्राप्त कर लेता है। जीवात्मा हेय गुणों का सेवन करते-करते हेय की मूर्ति बन जाता है और श्रेयगुणों का सेवन करते-करते श्रेय स्वरूप हो जाता है। यह जानकर कल्याण कामी को श्रेय गुणों का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।२३।।

हे सखे! जो मनुष्य मेरी वाणी स्वरूप शास्त्र विधि का त्याग कर अर्थात् मेरे वचनों का निरादर कर अपनी इच्छा से वर्तता है अर्थात् स्वेच्छाचारी है उसे न सिद्ध प्राप्त होती, न परमगति और न सुख। वह सदा संतप्त रहता है, अशान्ति की शैया में सोता है, यम दण्ड उसके सिर पर ही घूमता रहता है, सदा नरक का कीड़ा बना रहता है अर्थात् वह पापमूर्ति दुःख की मूर्ति बना हुआ आसुरी योनियों में चक्कर लगाता रहता है। जैसे राजा के बनाये हुये नियम के अनुसार न चलने वाले बागी पुरुष राजदण्ड के अधिकारी होते हैं, वैसे ही परमात्मा के वचनों का अपमान करने वाले यम यातना के पात्र बनते हैं।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।२४।।

हे बन्धु ! क्या करणीय कृत्य है और क्या अकरणीय है, इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण हैं अर्थात् यह वार्ता शास्त्र बतलाते हैं। इसलिए तुम उसको समझकर शास्त्र विधि के अनुसार नियत किये हुये स्वकर्म करने के योग्य हो अर्थात् शास्त्रानुसार आचरण करो, स्वातन्त्र्य और स्वेच्छाचार को कभी स्वप्न में भी अपने हृदय में स्थान न देना।

तात्पर्यार्थ

मनुष्य की जीवन पद्धति दैवी सम्पत्ति से युक्त होना चाहिये तथा स्वभाव भगवद्भजन मय और इनके साथ–साथ शास्त्रानुमोदित भगवदर्थ कर्मों के अनुष्ठान को अपना कर ब्रह्म प्राप्ति कर लेना पुरुष का परम लक्ष्य होना चाहिये, यही सोलहवें अध्याय में कहे हुये भगवान का सारतम संदेश है।

सप्तदश-अध्याय

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।।१।।

भगवान के कहे हुये वचनों को श्रवणकर श्री अर्जुन जी बोले, हे कृष्ण ! जो पुरुष शास्त्र विधि की ओर ध्यान न देते हुये केवल श्रद्धा पूर्वक देवताओं का पूजन किया करते हैं, उनकी निष्ठा कौन से गुण में स्थित है, सत्व में, रज में या तमोगुण में, बतलाने की कृपा करें क्योंकि वास्तविक वार्ता का विनियोग आप श्री के मुख कमल से होता है।

श्री भगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ।।२।।

अर्जुन के इस प्रकार प्रश्न को सुनकर भगवान बोले, हे सखे ! बिना शास्त्रीय संस्कारों के केवल स्वभावजा (सहजा) श्रद्धा, सात्विकी, राजसी और तामसी भेद से तीन प्रकार की होती है, उसको मैं तुमसे कहता हूँ श्रवण करो।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।३।।

हे भारत ! सभी पुरुषों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है अर्थात् जैसा जिसका अन्तःकरण वैसी उनकी श्रद्धा का रूप होता है, तथा यह पुरुष श्रद्धामय है अतएव जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा उसका

स्वरूप होता है, जैसे हंस का जैसा शुद्ध विचार अन्तःकरण में होता है वैसा ही उसका शुद्ध शुक्ल स्वरूप होता है और काग का जैसा मलिन कपटपूर्ण अन्तःकरण होता है, वैसा ही उसका काला स्वरूप भी होता है इसी प्रकार उपर्युक्त वार्ता के विषय को समझना चाहिये।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।४।।

बन्धु ! सात्विक अन्तःकरण वाले पुरुषों की श्रद्धा सात्विक होती है इसलिये वे लोग सात्विक देवताओं का पूजन करते हैं तथा राजस अन्तः करण वाले मनुष्यों की श्रद्धा यक्ष और राक्षसों को पूजने में हुआ करती है, इसी प्रकार तामस अन्तःकरण वाले पुरुषों को श्रद्धा प्रेत और भूतों के पूजने में उनको लगाया करती है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामराग बलान्विताः ।।५।।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम चेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।६।।

हे सखे ! जो पुरुष दम्भ, अहंकार तथा कामना आसक्ति और बल के अभिमान से संयुक्त होकर शास्त्र विधि से रहित मनोकल्पित घोर तप को तपते हैं वे शरीरस्थ पंचभूतों को अर्थात् शरीर मन, इन्द्रिय, प्राण तथा जीव को और अन्तर्यामी रूप से सबके शरीर में रहने वाले मुझको भी कृश करने वाले अर्थात दुखी करने वाले हैं, अतएव उन अज्ञानियों को तुम आसुरी स्वभाव के समझो, वे आसुर लोक के ही अधिकारी होकर मृत्यु के पश्चात् महान कष्ट का अनुभव करेंगे।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवतिप्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ।।७।।

हे सखे ! जैसे लोगों की श्रद्धा तीन प्रकार की होती है वैसे ही आहार (भोजन) भी अपने अपने स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार से प्रिय होता है और उसी प्रकार से उनके यज्ञ, तप तथा दान भी तीन–तीन प्रकार के हुआ करते हैं, उन सबके पृथक् पृथक् भेदों को श्रवण करो।

आयुः सत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।८।।

हे बन्धु ! आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को विवर्धन करने वाले, रसयुक्त चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वाभाविक मन को प्रियकर लगने वाले भोजन के पदार्थ सात्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं क्योंकि उर्पयुक्त आहार के पदार्थ सब सात्विक होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।९।।

इसी प्रकार हे सखे ! कडुवे, खट्टे, नमकीन और अति–गरम, अति तीक्ष्ण, रूखे तथा दाहकारक एवं दुख, चिन्ता और रोग उत्पादक आहार करने के पदार्थ राजस प्रकृति के मनुष्यों को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।१०।।

हे बन्धु ! जो आहार अधपका, रस रहित, दुर्गन्धित, वासी, उच्छिष्ट और अमेध्य अर्थात् अपवित्र, भोजन के योग्य नहीं है, वह भोजन तामसी प्रकृति वालों को प्रिय लगता है।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।।११।।

हे सखे ! जो यज्ञ शास्त्र विधि के अनुसार समाहित चित्त से करना ही कर्तव्य है, ऐसा विचार कर तथा फल को न चाहकर अर्थात् भगवदर्थ

किया जाता है, वह सात्विक है, इसलिये इस प्रकार के यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले पुरुष सात्विक यज्ञ के कर्ता कहे जाते हैं।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

विधि हीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धा विरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

हे बन्धु ! जो यज्ञ केवल दम्भ मात्र के लिये तथा फल को प्रयोजन बनाकर किया जाता है, उस यज्ञ को तुम राजस जानो और वेद विधि विहीन, तथा अन्नदान से रहित एवं बिना मन्त्रों के बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के आयोजित यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।

देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
बह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

हे सखे ! देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन तथा शौच, सौजन्य ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये सब शारीरिक तप कहे जाते हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वांग्मयं तप उच्यते।।१५।।

इसी प्रकार हे बन्धु ! जिस मुख से निकले हुये वचनों में सर्वथा सत्यता भरी हो, कोई वाक्य किसी को उद्वेग करने वाला न हो तथा सबको मधु के समान प्रिय एवं हितकारी हो, और जो वाणी वेद शास्त्र का पठन पाठन तथा पुरुषोत्तम भगवान के मन्त्र व नाम जपने का अभ्यास करने वाली हो निश्चयपूर्वक वह वाणी तपोमय है, इसलिये उक्त प्रकार वाचिक व्यवहार वाङ् मय तप कहलाता है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

श्रद्धया परयातप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।।१७।।

हे बन्धु ! मन का प्रसन्न रहना, सबको प्रिय लगनेवाला स्वभाव का होना, मौन अर्थात मन की चंचलता का न होना तथा मन के द्वारा इन्द्रिय निग्रह का होना और अन्तःकरण के भावों की संशुद्धि हो जाना मानसिक तप कहा जाता है। उक्त प्रकार की तपस्या में निरत मन ही परब्रह्म परमेश्वर के चिन्तन, मनन और निदिध्यासन में समर्थ हो सकता है। हे सखे! स्वयं फलाशा को परित्याग कर भगवदर्थ, परमश्रद्धा से, निष्कामी योग युक्त पुरुषों द्वारा किये गये पूर्वोक्त तीनों प्रकार के तप सात्विक कहलाते हैं अर्थात सात्विक हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

सखे ! जो तप अपने सत्कार–मान और पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा से दम्भ पूर्वक किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फलदायक तप राजस कहा जाता है, उसमें संशय का समावेश साथ–साथ रहता है, इस तप में कभी कभी उल्टे फल की प्राप्ति हो जाती है जिससे कर्ता दुःख भय और शोक का आलिंगन करता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।१६।।

बन्धु ! जो तप मूढ़ बुद्धि से आग्रह पूर्वक मन वाणी और शरीर को पीड़ा पहुँचाकर किया जाता है, अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के निमित्त किया जाता है, वह तप तामस कहा जाता है, ऐसे तप से आसुरी योनियों में ही जन्म जन्म भटकना पड़ता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

हे सखे! दान देना अपना अनिवार्य कर्त्तव्य है, ऐसा समझकर जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार न करने वालों को दिया जाता है, वह दान सात्विक कहलाता है। क्योंकि सुदेश, सुकाल और सुपात्र के संयोग से दान की गरिमा अनन्त और अक्षय होती है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

हे बन्धु! जो दान बड़ी कठिनाई से फल की कामना से अभिभूत होकर तथा बदले में अपने सांसारिक कार्यों अर्थात स्वार्थ की सिद्धि के लिये दिया जाता है वह दान राजस कहा जाता है क्योंकि उक्त प्रकार का दान विषय प्रवृत्ति को बढ़ाने वाला होता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

इसी प्रकार हे बन्धु! जो दान, ग्रहीता का बिना सत्कार किये तिरस्कार पूर्वक बिना उपर्युक्त देश काल के अपात्रों को दिया जाता है, वह दान तामस कहलाता है क्योंकि कुकाल, कुदेश और कुपात्र के संयोग से तिरस्कार पूर्वक दिया हुआ दान तमसाछन्न लोकों की प्राप्ति कराने वाला होता है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

हे सखे! ॐ, तत्, सत्, ऐसे यह तीन प्रकार के शब्द सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के तीन नामों के रूप में निर्देश किये गये हैं और इन्हीं तीनों सच्चिदानन्दात्मक नामों से ब्राह्मण, वेद और यज्ञ आदि रचे गये हैं अतः ये परम पवित्र और जगत के कारण हैं।

तस्मादोमित्युदा हृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

बन्धु ! यही कारण है कि वेदपाठी ब्रह्मवादी विद्वान लोगों की शास्त्र विधि के अनुसार नियत की हुयी यज्ञ, तप और तपरूप क्रियायें सदा ॐ ऐसे इस परब्रह्म परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ हुआ करती है, अर्थात् मंगलमय परमात्मा के मंगलमय नाम का स्मरण करके ही मंगलमय कार्यों का प्रारम्भ परमात्मा को जानने वाले विद्वान किया करते हैं।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।२५।।

हे सखे ! इसी प्रकार तत् शब्द के वाच्य परब्रह्म परमात्मा के निमित्त अर्थात् तदर्थ यज्ञ, तप और दान रूप क्रियायें फलाशा को परित्याग कर कल्याण–कामी पुरुषों द्वारा की जाती हैं क्योंकि तत् और तद्वाच्य परमात्मा मोक्ष स्वरूप होने से तदर्थ क्रिया सम्पन्न करने वाले को मोक्ष प्रदान करता है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

हे सखे ! जैसे ॐ और तत् का प्रयोग साधु पुरुषों द्वारा किया जाता है उसी प्रकार सत् ऐसे इस परमात्मा के नाम का प्रयोग वेद–वेत्ताओं द्वारा साधु भाव अर्थात् सत्यभाव और श्रेष्ठ भाव में किया जाता है तथा प्रशस्त उत्तम कर्मों में भी सत् शब्द का प्रयोग करने की पद्धति है। बन्धु ! यज्ञ तपस्या और दान में जो स्थिति होती है वह भी सत् है, ऐसा कहा जाता है और परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के लिये किया हुआ कर्म तो निःसंदेह सत् है, ऐसा शास्त्रों और साधु पुरुषों के द्वारा कहा जाता है।

अश्रद्धयाहुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

हे बन्धु ! श्रद्धा से रहित हवन किया हुआ हव्य, दिया हुआ दान और तपा हुआ तप तथा अन्य जो कुछ भी किये हुये कर्म हैं, वह सबके सब असत् हैं– ऐसा मनीषियों द्वारा कहा जाता है, इसलिये वे न इस लोक में सुख देने वाले हैं और न परलोक में अर्थात् लोक परलोक दोनों को भ्रष्ट करने वाले हैं।

तात्पर्यार्थ

सात्विक श्रद्धा के साथ भगवदर्थ किये हुये यज्ञ, दान तप तथा अन्य शास्त्र विहित सत् कर्म लोक और परलोक दोनों में लाभकारी होते हैं, इसलिये मनुष्य को चाहिये कि पुरुषोत्तम घन भगवान का चिन्तन करते हुये उन्हीं की प्रसन्नता के लिये तदर्थ शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान परम श्रद्धा और उत्साह के साथ करता रहे, यही सत्रहवें अध्याय में कहे हुये भगवान के उपदेश का सारतम संदेश है।

अष्टादश-अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

तदोपरान्त श्री अर्जुन बोले, हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशि निषूदन! मैं सन्यास और त्याग के तत्व को पृथक् पृथक् जानने की इच्छा कर रहा हूँ, अतएव प्रार्थना है कि मेरी कामना को पूर्ण करने की कृपा करें।

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

अर्जुन के इस प्रकार के प्रश्न को श्रवण कर भगवान बोले, हे सखे! कितने ही विद्वान लोग काम्य कर्मों के अर्थात् स्त्री, धन आदि इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये और रोग संकट आदि अनिष्ट निवृत्ति के लिये जो यज्ञ, दान, तप उपासना आदि कर्मों के त्याग को सन्यास कहते हैं और कितने ही विवेकी पुरुष कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

बन्धु! इसी प्रकार कितने ही मनीषी विद्वानों का ऐसा मत है कि कर्म सभी दोष से उसी प्रकार युक्त हैं जैसे अग्नि धुएँ से, जल बुद-बुद, फेन, काई आदि से और पुष्प काँटे आदि से, इसलिये त्यागने योग्य हैं। इसी प्रकार दूसरे विद्वान कहते हैं कि यज्ञ, दान तथा तप रूप कर्म त्यागने

के योग्य नहीं है, वे मन को परम पवित्र बनाने वाले होते हैं।

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः।।४।।

हे सखे ! इस त्याग के विषय में मेरा जो निश्चय है अर्थात् जिसे मैं सिद्धान्त समझता हूँ , उसे तुम श्रवण करो, हे पुरुष सिंह ! वह त्याग सात्विक, राजस, तामस ऐसे तीन प्रकार का कहा गया है।

यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

हे सखे ! यज्ञ दान और तप रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं, अर्थात् इनको अपने आचरण में लाते ही रहना चाहिये क्योंकि निःसंदेह इनको करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है, ये यज्ञ दान और तप तीनों मनीषियों के अन्तःकरण को उसी प्रकार परम पवित्र कर देते हैं, जैसे निर्मली मटमैले जल को।

एतान्यपि तु कर्माणि संग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

इसलिये हे पार्थ ! ये यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों तथा अन्य भी करणीय श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान आसक्ति और फलाशा को त्याग कर अवश्यमेव करना चाहिये, ऐसा यह निश्चय किया हुआ मेरा उत्तम मत है और इसी मत को अपनाने से मनुष्य मात्र की भलाई होगी।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

हे सखे ! वर्ण और आश्रम के अनुसार शास्त्रों द्वारा नियत किये हुये कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है क्योंकि इससे महान हानि है, मोह

से अर्थात् बुद्धि के विभ्रम होने के कारण कर्मों का त्याग करना तामस कहा जाता है। अतएव इस त्याग से उस त्यागी को अंधकार मय अर्थात तमसाछन्न लोकों की ही प्राप्ति होती है।

दुःखमित्येव यत्कर्म काय क्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलंलभेत्।।८।।

हे बन्धु! जो पुरुष सर्व कर्मानुष्ठानों को दुःख रूप समझकर शारीरिक क्लेष के भय से वेद विहित करणीय कर्मों का त्याग करता है तो वह त्याग राजस कहलाता है तथा उस त्याग से त्यागी को त्याग करने की फलस्वरूपा शान्ति नहीं प्राप्त होती अर्थात् उसका त्याग वृथा है जो अशान्त मय जीवन का निर्माण करने वाला है। भाई! उचित आहार एवं शयन करने रूप कर्म के करने को शास्त्र कहता है किन्तु उसके त्याग से साधन की सिद्धि तो नहीं ही प्राप्त होगी उल्टे अशान्ति का ही आलिंगन करना पड़ेगा।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विकोमतः।।६।।

हे सखे! शास्त्र विधि से नियत किये हुये कर्मों का अनुष्ठान करना अपना कर्त्तव्य है ऐसा समझकर आसक्ति और फलाशा का परित्याग कर जो कर्म किया जाता है वही सात्विक त्याग के नाम से कहा जाता है। इसलिये कर्मों का स्वरूपतः त्याग न करके कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान में आसक्ति और फलाशा का त्याग ही करना चाहिये और इसी त्याग को सात्विक त्याग समझना बुद्धिमान त्यागी का लक्षण है। भाई! आप ही भला सोचो, आम का वृक्ष न लगाना रूप त्याग श्रेष्ठ एवं सात्विक है? या वृक्ष लगाकर उसके फल का स्वयं के लिये उपयोग में न लाकर परहित समर्पण कर देना श्रेष्ठ है? सभी एक स्वर से यही कहेंगे कि दूसरे के लिये वृक्षारोपण रूप कर्म करना श्रेष्ठ है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

हे सखे ! जो पुरुष अमंगलकारक कर्मों से न तो द्वेष करता है और न मंगलकारक कर्मों में आसक्त ही होता, वह मेधावी पुरुष निःसंदेह शुद्ध सत्वगुण से युक्त संशय रहित सच्चा त्यागी है। भैया ! भवन निर्माण न करना रूप कर्म के त्याग में कोई त्यागपन नहीं है, भवन निर्माण कर उसे दूसरे के अर्थ, बिना अहम् और आसक्ति के त्याग करना सच्चा त्याग है, तथा पापकर्मों एवं पुण्य कर्मों से द्वेष और राग का त्याग बुद्धि में बैठ जाने से ही सच्चा मेधावी और त्यागी कहा जाने के योग्य पुरुष हो सकता है, यह सब शुद्ध सत्व गुण के उदय होने पर ही संभव है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।११।।

सखे ! एक बात और यह है कि शरीरधारी पुरुषों द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग हो जाना संभव नहीं है क्योंकि प्रकृति परबस होकर शरीर निर्वाह के लिये कुछ न कुछ कर्म होते ही रहेंगे, इससे जो मनुष्य कर्मों के फल का त्यागी है वही सच्चा त्यागी है, ऐसा विद्वानों द्वारा कहा गया है। बन्धु ! पथिक को पथ पार करना ही पड़ेगा अतएव घबराकर न चलने का हठ नहीं करना चाहिये, क्योंकि बिना चले गन्तव्य स्थान न मिलेगा, इससे न चलने से चलना ठीक है केवल आसक्ति और फल की आशा न रखे।

अनिष्टं मिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।।१२।।

हे बन्धु ! सकामी संसार सुख लोलुप पुरुषों के कर्म का फल अच्छा, अर्थात् प्रिय, बुरा अर्थात् अप्रिय और मिश्रित अर्थात् अनुकूल प्रतिकूल दोनों

से मिला हुआ होता है, परन्तु त्यागी पुरुषों के कर्मों का फल किसी समय सामने नहीं आता, क्योंकि अहं और आसक्ति शून्य भगवदर्थ उनके किये हुये कर्म वास्तव में कर्म नहीं कहे जाते और न भुने हुये बीज के समान वे फल ही उत्पन्न कर सकते।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।१३।।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।१४।।

हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मों की क्रियात्मक पूर्ण सिद्धि के लिये ये पाँच हेतु सांख्य सिद्धान्त में कहे गये हैं, उनको तुम हमसे भली भाँति समझकर जान लो। उनमें प्रथम है, आधार अर्थात् जिसके आश्रय को लेकर कर्म किये जायें जैसे भूख लगने के आधार से भोजन बनाना रूप कर्म किया जाता है, दूसरा हेतु है कर्ता अर्थात् जो कर्म का सम्पादन करता है, तीसरा हेतु है पृथक्–पृथक् करण अर्थात् जिन जिन इन्द्रियों व साधनों के द्वारा कर्म किये जाते हैं, चौथा हेतु है अनेक प्रकार की न्यारी–न्यारी चेष्टायें और पाँचवाँ हेतु है दैव अर्थात् पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के संस्कार। इस प्रकार से इन्हीं पाँच हेतुओं को लेकर कर्म बना करते हैं, यह वार्ता तुम्हें हृदयंगम कर लेनी चाहिये।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

हे बन्धु ! मनुष्य शरीर, वाणी और मन से जो भी शास्त्र के अनुकूल तथा प्रतिकूल अर्थात् उचित अनुचित जो भी कर्म आरम्भ करते हैं, उसके ये ही पंच कारण हैं जो तुम्हें हम बतला चुके हैं। अर्थात् इनके बिना कर्म किये ही नहीं जा सकते।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

हे सखे ! ऐसी कर्मस्थिति अर्थात् पंच हेतुओं से कर्म होने पर भी अशुद्ध बुद्धि वाले अर्थात् देहाभिमानी शुद्ध स्वरूप आत्मा को ही कर्ता मानते हैं और देखते हैं इसलिये उन अज्ञानियों की दृष्टि अशुद्ध है अर्थात् वे यथार्थ नहीं देखते जैसे नेत्र दोष होने से श्वेतचन्द्र पीतवर्ण का दीखता है वैसे ही उक्त विषय की वार्ता को भी समझना चाहिये।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

हे सखे ! जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है अर्थात् कर्तृत्वाभिमान से रहित है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक भोगों एवं कर्मों और कर्मों के फलों से अलिप्त है, वह पुरुष सारे संसार को मार कर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बँधता है जैसे शस्त्रादि सबके गले को उतार कर भी मारने वाले नहीं माने जाते और न पाप को ही प्राप्त होते एवं अग्नि, वायु, जल से जैसे प्रारब्ध–वश लोगों की हिंसा होती है परन्तु वे पाप के भागी नहीं होते, वैसे ही अहं हीन पुरुषों के विषय में समझना चाहिये।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म संग्रहः।।१८।।

हे सखे ! ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये तीनों कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग से कर्म करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और कर्ता, करण, क्रिया अर्थात् कर्म करने वाला, कर्म करने के साधन तथा कर्म करना ये तीनों कर्म के संग्रह हैं अर्थात् इन तीनों से कर्म बनते हैं। जैसे तुम समर करने वाले हो, तुम्हारे हाथ तथा धनुष बाण समर के साधन हैं और बाण छोड़ कर शत्रु को मार डालना क्रिया है,

वैसे ही प्रत्येक कर्म के होने में इन तीनों की आवश्यकता होती है, अर्थात् इनके बिना कर्म हो नहीं सकते।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१६।।

हे बन्धु! सात्विक, राजस और तामस के भेद से साँख्य शास्त्र में ज्ञान कर्म और कर्त्ता के तीन तीन प्रकार कहे गये हैं उनको भी मैं तुमसे कह रहा हूँ ध्यान देकर श्रवण करो क्योंकि तीनों भेद को बिना जाने कोई भी उत्तम ज्ञान, उत्तम कर्म और उत्तम कर्ता के समझने में संशय ग्रस्त ही रहेगा।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

हे सखे! जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक् पृथक् सम्पूर्ण भूतों में एक अव्यय अर्थात् विनाश रहित परमात्मभाव को समभाव से बिना विभाग के देखता है, उस ज्ञान को तुम सात्विक ज्ञान जानों, जैसे मिट्टी के सभी पात्रों में जो एक मिट्टी को ही देखता है अर्थात् पात्रों के अलग अलग रूपों के कारण जिसे अनेकता नहीं दीखती उसी का देखना सच्चा देखना है वैसे ही अद्वय परमात्मभाव के विषय में भी समझो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।२१।।

बन्धु! जिस ज्ञान के द्वारा पुरुष सम्पूर्ण प्राणियों में भिन्न भिन्न प्रकार के नाना भावों को पृथक् पृथक् करके समझता है, उस ज्ञान को तुम राजस जानों! जैसे स्वर्ण के बने हुये सम्पूर्ण आभूषणों में पृथक् पृथक् आकार प्रकार होने के कारण एवं नाम कस और वजन आदि भेद के कारण लोग सोना न कहकर अलग नाम तथा सुन्दर असुन्दर आदि न्यारे न्यारे भाव करके जानते हैं वैसे ही राजस ज्ञान के विषय की वार्त्ता को समझो।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

हे सखे ! जिस ज्ञान से पुरुष एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्णता के सदृश आसक्त है अर्थात् जो विपरीत ज्ञान का आश्रय ग्रहण कर देह को ही आत्मा मान रखा है, ऐसे असंगत तत्व रहित तुच्छ ज्ञान को तामस ज्ञान कहते हैं जैसे कोई अज्ञानी चावल को छोड़ कर बूसी को ग्रहण करके उसी से अपने उदर पूर्ति में आशक्त रहे, वैसे ही देह को आत्मा मानने वाले तामस ज्ञान वालों के विषय में भी समझना चाहिये।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विक मुच्यते ।।२३।।

हे सखे ! आसक्ति और कर्तापन के अभिमान से रहित तथा बिना राग द्वेष के, फल की काँक्षा न रखते हुये शास्त्र विधि से नियत किया हुआ जो कर्म किसी पुरुष से किया जाता है, उसे सात्विक कर्म कहा जाता है क्योंकि उसमें सत्व की सर्वथा सर्वभावेन स्थिति रहती है जैसे जिस स्वर्ण के आभूषण में बिना मिलावट के सोना ही सोना रहता है, उसे सच्चे सोने के नाम से ही लोग जानते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।२४।।

बन्धु ! जो कर्म अहंकारी पुरुषों द्वारा परिश्रम पूर्वक कामना की पूर्ति के लिये किया जाता है, वह कर्म राजस कहलाता है, जैसे जिस चाँदी के अलंकार में न तो सोना है और न ताँबा, उसे रजत के नाम से ही लोग पुकारते हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।२५।।

हे सखे ! जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार करके केवल मोह अर्थात् बुद्धि विभ्रम से आरम्भ किया जाता है, उसे तामस कर्म कहा जाता है, जैसे ताँबे के अलंकार को, कि जिसमें नाम मात्र को न चाँदी है और न सोना, ताँबे के नाम से ही लोग जानते हैं।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्धय सिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

हे सखे ! जो कर्ता असंग अर्थात् अलिप्त और अहंकार रहित अर्थात् अपने को कर्ता न कहने वाला है तथा धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य की सिद्धि और असिद्धि से हर्ष विषाद आदि विकारों से अछूता रहता है, वह कर्ता सात्विक कहा जाता है क्योंकि उपर्युक्त लक्षणों से कर्ता बँधता नहीं अपितु मुक्त होकर दूसरे को मुक्त करने में समर्थ होता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

हे बन्धु! जो कर्ता, कर्मों के करने में आसक्त रहता है, कर्म–फल की कामना से बँधा रहता है, लोभी है, हिंसावृत्ति वाला अर्थात् मन, वचन कर्म से दूसरों को कष्ट पहुँचाने के स्वभाव वाला है, अशुद्ध आचरण करने वाला अर्थात् तन, मन, वचन से अपवित्र रहता है और जो हर्ष शोक से सदा युक्त रहता है, वह कर्त्ता राजस कहा जाता है, क्योंकि वह रजोगुण प्रधान प्रवृत्ति वाला संसार ही के वर्धन हेतु बिना विचारे कर्मों और उनके फलों में रचा पचा रहता है

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

हे बन्धु ! जो कर्ता चंचल चित्त वाला, शिक्षा शून्य स्तब्ध अर्थात् गुम सुम रहने वाला, शठ, धूर्त, दूसरे की जीविका को अपहरण करने वाला

एवं शोक करने के स्वभाव वाला, दीर्घ सूत्र अर्थात् आलसी है, वह कर्ता तामस कहा जाता है क्योंकि वह तमोगुण प्रधान प्रवृत्ति वाला, मोह के अन्धकार में सदा सोता रहता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय।।२६।।

बन्धु ! अब मैं तुमसे बुद्धि और धारण शक्ति के भेद सात्विक, राजस, तामस गुणों के अनुसार तीन प्रकार के भली भाँति विभाग पूर्वक वर्णन करता हूँ , अतः ध्यान देकर श्रवण करो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

हे सखे ! जो बुद्धि प्रवृत्ति—निवृत्त को, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को भय, अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को तत्वतः जानती है, वह सात्विकी है, अर्थात् श्री जनक जी जैसे प्रवृत्ति मार्ग का ज्ञान, और श्री शुकदेव जी जैसे निवृत्ति मार्ग का ज्ञान एवं शास्त्र विहित कर्त्तव्य कर्म का ज्ञान और शास्त्र निषिद्ध अकर्त्तव्य कर्म का ज्ञान तथा भगवत् विमुख रहने से भय और भगवत शरणागति ग्रहण करने से अभय प्राप्ति का ज्ञान तथा कामना से युक्त रहना बन्धन और वासना विहीन हो जाना मोक्ष का हेतु है, ऐसा ज्ञान रखने वाली बुद्धि सात्विकी कही जाती है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

हे पार्थ ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म अधर्म और कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को यथार्थता : नहीं जानता वह बुद्धि राजसी कही जाती है। विषय सुख की अत्याधिक कामना एवं प्रवृत्ति, ज्ञान को तिरोहित कर देती है, इसलिये रजोगुण से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

हे बन्धु ! तमोगुण से आवृत्त होने पर बुद्धि मारी जाती है, उस समय वह अधर्म को धर्म करके मानती है, कहाँ तक कहें सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत ही समझती है क्योंकि तमोगुण से विपरीत ज्ञान की पूर्णतः वृद्धि होती है, ऐसी बुद्धि को तामसी कहते हैं।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

हे पार्थ ! ध्यान योग के द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धारणा से पुरुष मन प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धारणा सात्विक कही जाती है क्योंकि सत्वगुण की वृद्धि से आत्मबल होता है और आत्मबल से धारण करने की शक्ति की परिवृद्धि होती है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

हे बन्धु अर्जुन ! फल की कामना रखने वाले पुरुष अत्यन्त आसक्ति से जिस धारणा के द्वारा धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, उस धारणा को राजसी कहते हैं, क्योंकि रजोगुण की प्रधानता से फलासक्ति से बँधा हुआ मनुष्य धर्मादि को धारण करता है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धि वाला पुरुष जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुख और उन्मत्तता को ही धारण किये रहता है अर्थात् सर्वकाल नींद में निमग्न, भयभीत, चिन्तित दुखी और उन्मत्त रहता है, उस धारणा को तामसी कहते हैं क्योंकि इसमें तमोगुण की ही प्रधानता होती है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम्।।३७।।

हे भरतर्षभ! अब मैं तुमसे सात्विक, राजस, तामस भेद से तीन प्रकार के सुखों का वर्णन करता हूँ सावधानतया श्रवण करो। पुरुषोत्तम भगवान के नाम संकीर्तन, रूप ध्यान, लीला चिन्तन और सेवा आदि अभ्यास करते समय साधक पुरुष के चित्त को रमाने वाले जिस आनन्द की अनुभूति होती है तथा जो सुख दुखों का अन्त कर देता है, वह सुख यद्यपि पहले अभ्यास काल में उसी प्रकार के विष के सदृश भासता है जैसे क्रीड़ासक्त बालक को विद्या का अभ्यास कटु प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के समान सुखदाई होता है इसलिये परमात्म विषयक बुद्धि के प्रसाद से जिस आनन्द का अनुभव होता है, वह सात्विक कहा जाता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्त दग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

हे बन्धु! विषय और इन्द्रियों के संयोग से जिस सुख का अनुभव मनुष्य करता है, वह यद्यपि भोगकाल में बहुत ही सुखकर अमृत के समान उसी प्रकार प्रतिभासित होता है जैसे खाज खुजलाने से अच्छा लगता है किन्तु परिणाम में वह सुख विष के सदृश उसी प्रकार हो जाता है जैसे खाज खुजलाने से अन्त में अधिक जलन, बेचैनी एवं रोग की वृद्धि हो जाती है। अतएव बल, बुद्धि, वीर्य, उत्साह, धन और परलोक का नाश कर देने वाले इन्द्रिय जन्य सुख को राजस कहा गया है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

हे सखे ! जो सुख विषयों के भोग काल में और परिणाम में भी आत्मा को संमोहित कर देता है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होने वाला सुख तामस कहा जाता है, क्योंकि यह सुख तमोगुण की वृत्तियों से उत्पन्न होकर तम से ही परिपूर्ण रहता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

हे सखे ! भूलोक, स्वर्गलोक व देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो प्रकृति जन्य तीनों गुणों से अछूता हो क्योंकि सर्व जगत माया का ही कार्य है अर्थात् त्रिगुणमयी माया से ही उत्पन्न होता है। मिट्टी से बनने वाले घट जैसे मिट्टी से ही ओत प्रोत होते हैं, वैसे ही त्रिगुण का कार्य स्वरूप यह संसार त्रिगुणात्मक ही है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परतंप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः।।४१।।

हे सखे ! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के भी कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुये गुणों के अनुसार विभाजित किये हैं, अर्थात् सात्विक, राजस तथा तामस ये तीनों गुणों का प्रभाव प्राणियों के पूर्व संस्कारों के अनुसार उनके किये हुए कर्मों में प्रवृत्तियों में प्रगट देखा जाता है, इसलिये उन्हीं गुणों के अनुसार विभक्त किया गया है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्।।४२।।

हे बन्धु ! तदनुसार चारों वर्णों के गुण व कर्म क्रमशः श्रवण करो, मन का निग्रह, इंद्रिय निग्रह वाह्यभ्यन्तर की पवित्रता, क्षमा भाव, सरलता अर्थात् सौजन्य तथा शाब्द ब्रह्म और परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान तथा उसमें पूर्ण स्थिति, आस्तिक बुद्धि और ब्रह्म विषयक अनुष्ठानों में प्रवृत्ति, ये तो ब्राह्मणों के

स्वाभाविक कर्म हैं, सत्व गुण प्रधान एवं राजस तामस गुणों से रहित स्वभाव होना ही ब्राह्मण स्वरूप है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रंकर्मस्वभावजम्।।४३।।

हे बन्धु! शौर्य, तेज, धैर्य दक्षता अर्थात् क्षत्रियोचित् कर्म करने में कुशल और युद्ध से विमुख न होने का स्वभाव, तथा दान, ईशन करने की प्रवृत्ति अर्थात् शास्त्ररीत्या शासन के द्वारा प्रजा को धर्म में लगाकर पुत्रवत् स्नेह के द्वारा सब को रंजन करने का स्वभाव, ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

हे सखे! कृषि (खेती), गो सेवा, क्रय विक्रय रूप वाणिज्य अर्थात् व्यापार ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं और सब वर्णों की परिचर्या अर्थात् सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथाविन्दतितच्छृणु।।४५।।

हे सखे! उपर्युक्त प्रकार से बताये हुये अपने अपने स्वाभाविक कर्मों में अभिरत रहने वाला मनुष्य पुरुषोत्तम भगवान की प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है अब उस विधि को तुम श्रवण करो कि जिस विधि को अपनाने से परमसिद्धि का संलाभ होता है। जैसे एक राजा ने चार मनुष्यों को क्रमशः शुक्ल, पीत, रक्त, नील वस्त्र धारण करके आने से अपनी भेंट बतायी और विपरीत वस्त्र अपनाने से दंड का भागी होना पड़ेगा, बतलाया परन्तु कोई नियम को माने, कोई नहीं माने, इसलिये नियम के अनुसार किसी को राजा का मिलन हुआ और किसी को दण्ड भोगना पड़ा,

वैसे ही सिद्धि की प्राप्ति और अप्राप्ति के विषय में समझो।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

हे सखे ! जिस परब्रह्म परमेश्वर से सर्व प्राणी समुदाय की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार उसी प्रकार व्याप्त है जैसे बर्फ जल से व्याप्त है, अतएव उसकी प्राप्ति के लिये उसी के बताये हुये (वेदाज्ञा) नियमानुसार अपने स्वाभाविक कर्म की पूजन सामग्री लेकर उस परमात्मा की अभ्यर्चना करनी चाहिये, निश्चय है कि मनुष्य परमसिद्धि रूप परमात्मा की प्राप्ति उपर्युक्त विधि से कर लेता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

हे बन्धु ! भली भाँति अनुष्ठान किये हुये दूसरे के धर्म से गुण रहित होते हुये भी अपना धर्म श्रेष्ठ है क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए वेदविधि के अनुसार स्वधर्म का अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता और अन्य के धर्म को भलीप्रकार से आचरण में लाकर भी पाप को प्राप्त होता है, जैसे नाट्य में किसी को भूत का पाठ दिया गया और किसी को देवता का, अस्तु अपना अपना पाठ ठीक ढंग से करने पर ही मालिक को पाठकर्ता प्रसन्न कर सकता है– यदि भूत का पाठक देव का पाठ करे और देव वाला पाठक भूत का पाठ करे तो स्वामी प्रसन्न नहीं हो सकता क्योंकि उसकी नियति के विरुद्ध पाठ उसे प्रिय नहीं हैं।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

हे सखे ! इसलिये दोष युक्त होते हुए भी अपने स्वाभाविक अर्थात् वर्ण–आश्रमादि के अनुसार निर्धारित किये हुए कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए

क्योंकि कोई कर्म ऐसे नहीं हैं जो दोष से अछूते हों जैसे धुएँ से अग्नि आवृत रहती है उसी प्रकार सम्पूर्ण कर्म किसी न किसी दोष से आवृत रहते हैं।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।४६।।

हे सखे! आसक्तिहीन बुद्धि द्वारा स्पृहा रहित एवं जित अन्तःकरण होकर जो पुरुष सांख्य योग के अनुसार अपना निर्माण कर लेता है वह भी परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है अर्थात अक्रिय शुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा को उसी प्रकार प्राप्त हो जाता है जैसे अग्नि में छोड़ा हुआ ईंधन अग्नि भाव को प्राप्त हो जाता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

हे कौन्तेय! जो तत्वज्ञान की परानिष्ठा है जिसे ब्रह्म प्राप्ति रूप सिद्धि कहा है, वह साँख्य योग के द्वारा जैसे प्राप्त होती है वैसे संक्षेप से मैं कह रहा हूँ, समाहित चित्त होकर श्रवण करो।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वारागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।

विविक्त सेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यान योगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

हे सखे! विशुद्ध परमार्थदर्शिनी बुद्धि से युक्त होकर सात्विक धारण द्वारा अन्तः करण को अपने आधीन करे जिससे चित्त चंचलता छोड़कर

ब्रह्म विषयक चिन्तन करता हुआ तदाकार होने की प्रवृत्ति वाला बन जाय, तत्पश्चात् एकान्त विघ्नविहीन मन को रमाने वाले देश में मेध्य मिताहार करता हुआ निवास करे, शब्दादि पंच विषयों से सर्वथा मन हटाकर राग द्वेष का विनाश कर डाले और सजगता के साथ शरीर, वाणी मन को जीते हुये परम वैराग्य का आश्रय ग्रहण करे, इस प्रकार अपनी स्थिति का निर्माण कर ध्यान योग में तत्पर रहे तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रह को त्याग कर ममत्व से रहित होकर शान्त हो जाय, तब साधक सच्चिदानन्दघन पूर्णतम् परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव होने के योग्य हो जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

हे सखे! ब्रह्म प्राप्ति के योग्य पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव स्थित हुआ आनन्द स्वरूप बन कर सदा प्रसन्न रहता है, वह न किसी के लिये शोक करता और न किसी की कामना ही करता तथा सम्पूर्ण भूतों में एक परमात्मा को देखता हुआ समभाव से सम्पन्न मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है, जिसके पा लेने से कुछ पाना शेष नहीं रहता तथा ज्ञान रूपी परिपक्व फल की रस रूपिणी परा भक्ति के स्वाद का ज्ञान हो जाने से कुछ जानना भी शेष नहीं रहता।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

हे सखे! रसरूपिणी पराभक्ति को प्राप्त कर लेने पर ही पुरुष मुझको सर्वभावेन भली भाँति जानने में समर्थ होता है, और जो जिस प्रभाव से युक्त जैसा हूँ तत्वतः जानकर तत्काल मेरे में प्रवेश करता है अर्थात् मेरे साधर्म्य को प्राप्त कर मुझ पुरुषोत्तम पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त उसके ज्ञान में कुछ नहीं रहता।

सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

बन्धु ! मेरा आश्रय ग्रहण करने वाला प्रपन्न तो मदर्थ निष्काम कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी मेरे परमपद को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिस पद को ब्रह्म भूत प्रसन्नात्मा पराभक्ति को प्राप्त कर प्राप्त करता है, उसी पद को मेरी शरणागति को ग्रहण करने वाला चेतन मेरी कृपा से सहज ही प्राप्त कर लेता है।

चेतसा सर्व कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

हे सखे ! इसलिये तुम भी सम्पूर्ण कर्मों के फलों को मुझे समर्पण करके मेरे परायण हो जाओ, इस प्रकार से समत्व बुद्धि योग रूप मदर्थ कर्म योग का अवलम्बन ग्रहण करके निरन्तर मेरा चिन्तन ही तुम्हारे चित्त का विषय बना रहे अर्थात तुम्हारा चित्त मेरे स्वरूप का आकार बन जाय। जहाँ चित्त रहता है वहीं आत्मा का निवास होता है, चित्त परमात्मा में लगे रहने से आत्मा भी वहीं रहकर तदाकार हो जाता है।

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

हे बन्धु ! इस प्रकार से सतत् मेरा चिन्तन करने से तुम मुझे प्रसन्न करने में सक्षम हो सकोगे तत्पश्चात् मेरी कृपा से सहज ही अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश तथा जन्म–मरण आदि घोर संकटों से सहज ही पार हो जाओगे अर्थात् भवसागर से पार होकर परमपद प्राप्त करोगे और यदि अहंकार के वशीभूत होकर मेरे वचनों को न सुनोगे, अर्थात् न मानोगे तो नष्ट हो जाओगे अर्थात् परमार्थ भ्रष्ट हो जाओगे, जैसे राजाज्ञा का निरादर करने वाला कारागार का अधिकारी (पात्र) बनता है, वैसे ही

शास्त्र, हरि, गुरु संत की वार्ता कान न देने से भव दुख ही भोगना पड़ता है।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५६।।

बन्धु ! यदि तुम्हारा अहंकार के आधीन होकर युद्ध न करने का आग्रह ही अच्छा है, तो यह मान्यता तुम्हारी मिथ्या है, क्योंकि क्षत्रिय जाति का स्वभाव तुम्हें बलात्कार युद्ध करने की प्रेरणा देकर युद्ध कराये बिना न रहेगा, स्वभाव का अतिक्रमण करना अति दुर्गम है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

हे सखे ! जिस कर्म को तुम मोह वश करना नहीं चाहते हो, उसको भी अपने पूर्व कृत कर्मों के संस्कार से बंधे हुये विवश होकर तुम्हें करना पड़ेगा, क्योंकि पूर्व कृत कर्म संस्कारों के अनुसार ही पुरुष की प्रवृत्ति कर्म करने में होती है, उसमें किंचित उलट फेर करने की शक्ति मनुष्य में नहीं होती।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

बन्धु अर्जुन ! शरीर रूपी यन्त्र में आरूढ़ हुये सम्पूर्ण प्राणियों को अपनी माया से उनके कर्मफलों के अनुसार कठपुतली की तरह नचाता हुआ, सब पर शासन करने वाला अन्तर्यामी परमेश्वर सम्पूर्ण भूतों के हृदयदेश में स्थित है, अतः किसी प्राणी का हठ क्या करेगा, जो ईश्वर चाहेगा वही होगा क्योंकि वह सर्व समर्थ है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

इसलिये हे भारत ! सर्वात्मना सर्व भावेन उसी सर्व समर्थ परमेश्वर की शरणागति ग्रहण करो, आर्ति पूर्ण प्रपत्ति करने से वह परमात्मा द्रवीभूत हो जाता है, उसकी कृपा का सरोवर फूटकर शरणागत चेतन को आप्लावित कर देता है, अतएव उसकी कृपा से तुम परम शान्ति एवं सनातन परम पद को प्राप्त कर अमृतानन्द की अनुभूति करोगे।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

हे सखे ! इस प्रकार रहस्यमय सम्पूर्ण गोपनीयों से भी अति गोपनीय ज्ञान का कथन मैंने तुमसे किया है, वह इसलिये कि तुम मेरे वचनों के अनुसार सुन्दर सुपथ से चलकर परम कल्याणमय परमधाम को प्राप्त कर लो इसलिये भली भाँति सम्पूर्णता के साथ सुने हुये वाक्यों को मनन कर, विचार कर जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो।

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

भगवान के इस प्रकार कहने पर अर्जुन कुछ न बोल सके, तब शरणागत वत्सल भगवान पुनः बोले, हे सखे ! सम्पूर्ण गोपनीयों से भी अति गोपनीय परम रहस्यमय मेरे वचनों को तुम पुनः श्रवण करो, तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो इसलिये तुम्हारे कल्याण के लिये अति रहस्यमयी वार्ता को छिपाने में मैं सक्षम नहीं हो सकता क्योंकि अपने प्रिय को अपनी अति रहस्यमयी प्यारी वस्तु को समर्पण कर देना ही परम प्रीति का द्योतक हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

हे सखे ! तुम मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान में अपने मन को ऐसा लगाओ कि प्रयत्न करने पर भी तुम्हारा मन मेरे से न निकले

अर्थात् नित्य निरन्तर मेरे नाम, रूप, लीला और धाम में प्रेमातिशयता के साथ लगा रहे तथा अनन्य भाव से अव्यावृत मेरा भजन करने वाला भक्त बनो, एवं अपनी देह इन्द्रिय मन बुद्धि आत्मा और अपने से सम्बन्धित सारी वस्तुओं को मेरे पूजन की सामग्री समझ कर सर्वसमर्पण के साथ मेरी पूजा बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ अनुरागपूर्ण करने वाला पूजक बनो और मुझे बार बार सर्वांगेन दण्डवत् प्रणाम करने का नियम ले लो तो मैं सत्य की शपथ करके कहता हूँ कि तुम मुझको ही प्राप्त होगे क्योंकि इस प्रकार मुझमें अनुरक्त रहने वाले तुम मुझे बहुत प्रिय हो।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

हे सखे ! मैं सत्य कहता हूँ कि यदि तुम पूर्व कथित कर्मयोग, साँख्य योग, अष्टांग योग और उपासना योग को रक्षक रूप में न बरण कर अर्थात इनकी आस छोड़कर एक मुझ सम्पूर्ण प्राणियों के सुहृद सर्व समर्थ, सर्व शेषी, सर्व भोक्ता, सर्व लोक शारण्य, प्रेमस्वरूप, प्रेमप्रदाता, प्रेमज्ञ एवं कृतज्ञ तथा सर्व पर, सर्व सौलभ्य आदि दिव्य गुणों से युक्त मुझ पूर्णतम परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान की अनन्यतया आर्ति पूर्ण शरणागति ग्रहण कर लो तो मैं तुम्हारे सम्पूर्ण पापों को नष्ट करके तुम्हारे शोक के अश्रु सदा के लिये पोंछ दूँगा, अर्थात तुम परम पद की प्राप्ति करके मेरे साथ साथ मेरे ही समान परमानन्द का अनुभव करोगे।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

हे बन्धु ! मैंने यह रहस्यमय उपदेश तुम्हें अपना अत्यन्त प्रिय एवं अधिकारी समझ कर किया है किन्तु मेरे इस कहे हुये उपदेश को, तप रहित, अभक्त अर्थात् ईश्वर विमुख को तथा जो सुनने की इच्छा न करता हो अर्थात् जिज्ञासु न हो और जो मेरी निन्दा करने वाला हो ऐसे जनों

को कभी न देना चाहिये, परन्तु उपर्युक्त दोष विहीन जिज्ञासु भक्तों को प्रेम पूर्वक उत्साह भरकर सुनाना सर्वथा उचित है।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

हे सखे ! मेरी परमाभक्ति में परायण जो पुरुष इस परम रहस्यमय उपदेश को मेरे भक्तों से कहेगा अर्थात् निष्काम भाव से सादर पढ़ायेगा अथवा भक्तों के बीच व्याख्याकर सुनायेगा, व निःसन्देह मुझको प्राप्तकर मेरे परमपद को प्राप्त हो जायेगा क्योंकि ऐसे पुरुष से बढ़कर मेरे मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाला कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई नहीं है अर्थात् सब भुक्ति मुक्ति की स्पृहा से युक्त होकर तत्प्राप्ति के हेतु ही कर्म किया करते हैं, अनन्य प्रयोजन वाले बनकर मात्र मेरे सुख हेतु कार्य करना मेरे प्रिय भक्त से ही बनता है, इसलिये उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा दुलारा पृथ्वी में दूसरा कोई नहीं है।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञान यज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

हे सखे ! हम दोनों के धर्मस्वरूप इस संवाद को अर्थात् गीता शास्त्र को जो पढ़ेगा अर्थात् नित्य स्वाध्याय रूप से पाठ करेगा, उसके द्वारा ज्ञान यज्ञ से पूजित होकर मैं उस परम प्रसन्नता को प्राप्त करूँगा जिससे मेरी कृपा के पूर्ण प्रसाद प्राप्त करने का वह अधिकारी बन जायगा, ऐसा मेरा मत है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

हे बन्धु ! हमारे तुम्हारे सम्वाद रूप गीता शास्त्र को जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त एवं दोष दर्शन की दृष्टि से रहित होकर सुनेगा, वह श्रवण मात्र से उत्तम अनुष्ठान करने वालों के कल्याण स्वरूप लोकों को प्राप्त करेगा, इसमें कोई संदेह नहीं, मेरी प्रसन्नता से क्या नहीं हो सकता।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।।७२।।

उक्त प्रकार गीता माहात्म्य को कहकर भगवान बोले, हे पार्थ ! क्या मेरे कहे हुये उपदेश को तुमने एकाग्रचित्त से श्रवण किया ? और यदि श्रवण किया तो क्या तुम्हारा अज्ञान जनित मोह नष्ट हो गया ?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

आनन्द कन्द भगवान के पूछने पर अर्जुन बोले, हे अच्युत ! आपकी भगवती भास्वती कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्मृति की जागृति हो चुकी है इसलिये अब मैं संशय रहित होकर स्वरूप में स्थित हूँ, जो आपकी आज्ञा हो, वह करने के लिये सहर्ष उद्यत हूँ।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

उधर संजय ने कहा कि हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार मैंने वासुदेव भगवान और महात्मा अर्जुन के इस रोमाञ्चकारी अद्भुत सम्वाद को सुना अर्थात गीता का ज्ञान प्राप्त किया।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

श्री व्यास जी महाराज की कृपा से दिव्य दृष्टि को प्राप्त करके सब गोपनीयों में गोपनीय परम रहस्यमय इस गीता ज्ञान को योगेश्वर श्री कृष्ण भगवान से साक्षात् कहते हुए मैंने सुना है, इसमें आपको सन्देह नहीं करना चाहिये।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

हे राजन्! केशव भगवान और अर्जुन के इस चमत्कार पूर्ण पुण्य स्वरूप सम्वाद को पुनः पुनः स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षायमान हो रहा हूँ अर्थात् यह रहस्यमय गीता ज्ञान श्रद्धा पूर्ण श्रोता को परमानन्द प्रदान करने वाला है।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

हे राजन! भक्तों के दुःख का हरण करने वाले भगवान कृष्ण के उस अद्भुत विराट स्वरूप को पुनः पुनः स्मृति का विषय बनाकर चित्त महान आश्चर्य को प्राप्त हो रहा है और मैं बारम्बार हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ अर्थात् भगवान के नाम, रूप, लीला और धाम का चिन्तन सभी को परमानन्द प्रदान करने वाला होता है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

हे राजन! विशेष क्या कहूँ ? मैं तो इसी निष्कर्ष में पहुँचता हूँ कि जहाँ योगेश्वर भगवान कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन हैं वहाँ पर श्री, विजय विभूति और अचल नीति का निवास रहा है, और रहेगा, अर्थात् भक्त और भगवान की सेवा जहाँ पर श्रद्धा भक्ति से भरपूर होकर की जाती है वहाँ ही श्री, विजय, विभूति और नीति है इसके अतिरिक्त अन्यत्र स्थान

में उक्त विभूतियों का दर्शन दुर्लभ ही नहीं अप्राप्त है, ऐसा मेरा अडिग मत है।

तात्पर्यार्थ

अठारहवाँ अध्याय भगवान के उपदेश का उपसंहार अर्थात् सार सिद्धान्त है। भगवान आनन्द कन्द कृष्ण कर्मयोग, समत्व बुद्धि योग, सांख्य योग, अष्टांग योग आदि का उपदेश देकर अपने अत्यन्त प्रिय भक्त अर्जुन से अपने प्राप्ति के गूढ़तम रहस्य एवं उपाय को गुप्त रखने में समर्थ न हो सके, अतएव उन्होंने प्रपत्ति योग का कथन किया। भगवान की शरणागति ग्रहण करके आसक्त मन से प्रभु की प्रेमाभक्ति प्राप्त करना ही गीता के अठारहवें अध्याय का ही नहीं अपितु समस्त गीता का सारतम सदुपदेश है, इसलिये पुरुषार्थ स्वरूप परमपद (परब्रह्म) की प्राप्ति के लिये जीव के स्वरूपानुकूल भगवद्शरणागति ही सिद्ध साधन है, जिसे सुनकर अर्जुन विगत मोह हो गये और तदनुसार प्रपत्ति योग का अनुष्ठान करने के कारण ही भगवत् कृपा प्राप्त करने के पूर्ण अधिकारी बने। भगवान भी कृपा परवश होकर अर्जुन के योग क्षेम को सजग मना करते हुये अपनी पूर्ण प्राप्ति उन्हें करा कर ही कृत कृत्य हुये।

श्री हर्षण साहित्य

अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी रामहर्षण दास जी महाराज का अमूल्य भक्ति साहित्य

१. वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र व्याख्या) सजिल्द एवं अजिल्द
२. श्री प्रेम रामायण (तृतीय संस्करण) सजिल्द
३. औपनिषद् ब्रह्मबोध
४. गीता ज्ञान
५. रस चन्द्रिका
६. प्रपत्ति प्रभा स्तोत्र
७. विशुद्ध ब्रह्मबोध
८. ध्यान वल्लरी
६. सिद्धि स्वरूप वैभव (द्वितीय संस्करण)
१०. सिद्धि सदन की अष्टयामीय सेवा
११. लीला सुधा सिन्धु (द्वितीय संस्करण)
१२. चिदाकाश की चिन्मयी लीला
१३. वैष्णवीय विज्ञान
१४. विरह वल्लरी
१५. प्रेम वल्लरी
१६. विनय वल्लरी
१७. पंच शतक
१८. वैदेही दर्शन
१६. मिथिला माधुरी
२०. हर्षण सतसई
२१. उपेदशामृत
२२. आत्मविश्लेषण
२३. रामराज्य
२४. सीताराम विवाहाष्टक
२५. लीला विलास
२६. प्रपत्ति दर्शन
२७. रहस्यत्रय भाष्यम्

प्रकाशन विभाग

श्री रामहर्षण कुंज, नयाघाट, परिक्रमा मार्ग, अयोध्या, जिला साकेत (उ०प्र०) २२४१२३